विरोधमथनं नमाम्यनेकांतं

"विरोधको नाश करनेवाले अनेकांत को नमस्कार है।" संसार में जितना परस्पर संघर्ष होता है, सब एकांत पक्ष ग्रहण करने से होता है। प्रत्येक पदार्थ में एक ही गुण नहीं होता; अनेक होते हैं। इसलिये एक आदमी एक गुण को ग्रहण कर लेता है और उसी गुणवाला पदार्थ है, दूसरा नहीं ऐसी धारणा बना लेता है तब जो दूसरा आदमी दूसरे गुण को ग्रहण कर अपनी पहिले आदमीसे भिन्न धारणा बना लेता है तब उन दोनों में परस्पर झगडा हो जाता है क्यों कि- पदार्थमें दोनों गुण थे इसलिये दोनोंने ग्रहण किये। भूल यह हुई कि- उन दोनों ने दोनों गुण ग्रहण नहीं किये, एक एक ग्रहण कर दूसरे गुण की उस पदार्थ में सत्ता नहीं मानी। यदि दोनों आदमियों के मस्तक में यह विचार घर कर जाता कि- मैंने पदार्थ में यह गुण माना है और दूसरे ने अन्य। परन्तु पदार्थ में दोनों गुण हैं मैंने जो माना है वह इस अपेक्षा ठीक है और दूसरे ने जो माना है वह इस अपेक्षा से ठीक है तो दोनोंका सामंजस्य बैठ जाता और मतभेद का-- विरोध का नाश हो जाता। इसी विशेषता के कारण आचार्योंने अनेकांतकी महती महत्ता स्वीकार कर प्रशंसा की है।

"अनेकांत" शब्द का अर्थ एक से अधिक "अन्त" शब्द का अर्थ 'धर्म' वाला यह होता है। अर्थात् पदार्थ में केवल एक

विरोधमथनं नमाम्यनेकांतं

"विरोधको नाश करनेवाले अनेकांत को नमस्कार है।" संसार में जितना परस्पर संघर्ष होता है, सब एकांत पक्ष ग्रहण करने से होता है। प्रत्येक पदार्थ में एक ही गुण नहीं होता; अनेक होते हैं। इसलिये एक आदमी एक गुण को ग्रहण कर लेता है और उसी गुणवाला पदार्थ है, दूसरा नहीं ऐसी धारणा बना लेता है तब जो दूसरा आदमी दूसरे गुण को ग्रहण कर अपनी पहिले आदमीसे भिन्न धारणा बना लेता है तब उन दोनों में परस्पर झगडा हो जाता है क्यों कि– पदार्थमें दोनों गुण थे इसलिये दोनोंने ग्रहण किये। भूल यह हुई कि– उन दोनों ने दोनों गुण ग्रहण नहीं किये, एक एक ग्रहण कर दूसरे गुण की उस पदार्थ में सत्ता नहीं मानी। यदि दोनों आदमियों के मस्तक में यह विचार घर कर जाता कि– मैंने पदार्थ में यह गुण माना है और दूसरे ने अन्य। परन्तु पदार्थ में दोनों गुण हैं मैंने जो माना है वह इस अपेक्षा ठीक है और दूसरे ने जो माना है वह इस अपेक्षा से ठीक है तो दोनोंका सामंजस्य बैठ जाता और मतभेद का-- विरोध का नाश हो जाता। इसी विशेषता के कारण आचार्योंने अनेकांतकी महती महत्ता स्वीकार कर प्रशंसा की है।

"अनेकांत" शब्द का अर्थ एक से अधिक "अन्त" शब्द का अर्थ 'धर्म' वाला यह होता है। अर्थात् पदार्थ में केवल एक

गुण स्वभाव अथवा धर्म नहीं होता, बहुतसे रहते हैं। 'अनेकांत' शब्द का यह अर्थ है यह प्रमाण का विषय है।

अनेक धर्म एक साथ ज्ञान के विषय तो होते हैं परन्तु दूसरे को बतलाने का जो साधन मनुष्य के पास है, वह शब्द है और शब्द एक साथ एक गुणको ही प्रगट कर सकता है, अनेक गुणों को एक समय में नहीं इसलिये उस 'अनेकांत' को बतलाने का जो कायदा है उसीका नाम 'स्याद्वाद' है इसीका दूसरा नाम 'सापेक्ष नय' भी है। 'स्यात्' शब्द का अर्थ 'किसी अपेक्षा से' यह है और 'वाद' शब्द का अर्थ 'कहना' है। अर्थात् एकअपेक्षा से एक धर्म की मुख्यता करके यह कहा गया है, दूसरी अपेक्षा से यह नहीं है, दूसरी तरह है। 'नय' शब्द का अर्थ, प्राप्त कराने वाला' है।

अर्थात्— जो अनेकांतात्मक वस्तु का ज्ञान प्राप्त कराता है उसको नय कहते हैं।

संसारी जीवका सम्मिश्रण अनादि कालसे पुद्गल–कर्म के साथ चला आरहा है और परस्पर एकका दूसरे पर असर होता आरहा है जो प्रत्यक्ष मालूम पडता है।

प्रमाण ज्ञानको कहते हैं यह आत्माका असाधारण लक्षण है और 'नय' ज्ञान गुण प्रगट करने में सहायता करे उसे कहते हैं, संसारी जीव को ज्ञान कराने में 'शब्द' सहायता करते हैं। और ये शब्द जड पुद्गल से बनते हैं, इस तरह संसारी जीव जैसे

चेतन अचेतन का संमिश्रण है वैसेही उसको समझानेमें चेतनांश प्रमाण और पुद्गलांश 'नय' काम आते हैं।

इसीलिये शब्द ब्रह्मको बिना जाने परमब्रह्म नहीं जाना जा सकता। श्री तत्त्वार्थ सूत्र में इसीलिये "प्रमाणनयैरधिगमः" कहा गया है। अर्थात् संसारी जीवको तत्वोंका ज्ञान प्रमाण और नयोंसे होता है "सकलादेशो प्रमाणाधीनः" वस्तुमें समस्त गुणोंको ग्रहण करनेवाला 'प्रमाण' होता है "विकलादेशो नयाधीनः" वस्तु के एक गुण को बतलाने वाला नय होता है।

इसीलिये जो शब्दब्रह्मको नही जानते वे परब्रह्म को भी नहीं जान सकते यही कारण हैं कि शब्दब्रह्म (व्याकरण) को बिना जाने जो शास्त्रोंका स्वाध्याय करते हैं या पढते हैं वे यथार्थ अर्थ ग्रहण नहीं करपाते कहीं का कहीं अर्थ समझमें बैठा लेते हैं।

संस्कृत भाषा का व्याकरण सुसंगठित है और धातुओं के अनेक अर्थ होने से प्रत्ययों के लगने से प्रकरण की विशेषता से अर्थ बदल जाता है इस विशेषतासे वह भरा हुआ है। इसलिये शास्त्रों में जिन शब्दोंका आचार्योंने प्रयोग किया है उसका यहां क्या अर्थ ग्रहण होना चाहिये यह गुरुमुखसे चली आई परिपाटी से प्रकरणानुसार जाना जाता है।

दिगम्बर जैन संप्रदायकी यही विशेषता है कि—गुरु परम्परासे शास्त्र पठन करते हैं। केवली श्रुत केवली के ज्ञान को स्वतः प्रमाण मानते हैं बाकी किसी व्याख्याता का अर्थ स्वतः प्रमाण नहीं मानते अर्थात् उस व्याख्याता की बात जबतक

केवली श्रुतकेवली के प्ररूपित शास्त्र से नहीं पुष्ट होती तबतक वह यथार्थ है ग्राह्य है यह स्वीकार नहीं किया जाता चाहे वह व्याख्याता कितना ही वाक्चतुर हो।

वीतराग सर्वज्ञ अपनी दिव्य ध्वनिसे जिस तत्त्व का वर्णन करते हैं वही निर्दोष यथार्थ हो सकता है क्यों कि—उनका ज्ञान निर्मल और पूर्ण होता है। इसके सिवाय जिनका ज्ञान राग-द्वेष की सत्ता रहने से मैला (कश्मल) है और अपूर्ण है, वह कोई हो उसका ज्ञान स्वतः प्रमाण नहीं माने जाने के योग्य है।

दिगम्बर जैन आचार्यों की यही परिपाटी थी कि- वे अपनी बुद्धिसे कुछ भी न कहते थे न लिखते थे सदा गुरु परम्परासे चले आये तत्त्वार्थ का व्याख्यान ही करते थे। यहां तक कि तीर्थंकर होनेवाले महापुरुष तीन ज्ञान (मति श्रुत अवधि) धारी जबतक रहते थे तबतक तो धर्म का उपदेश देते ही न थे। दीक्षा लेने के बाद मनःपर्यय ज्ञान हो जाने पर भी वे धर्म का व्याख्यान न देते थे। मौन पूर्वक ही तप करते थे।

इसका तात्पर्य यह हुआ कि अपने अपूर्ण ज्ञान और राग-द्वेष की सत्तासे दूसरे जीवोंका अहित हो सकता है इस बातको वे समझते थे और ख्याति लाभ पूजाके लोभमें पडकर दूसरों के अहित होनेसे दुर्गति में जाना पडता है इस बातकी श्रद्धा रखते थे।

यही कारण है कि—प्रत्येक आचार्यने तीर्थंकरों की इस मर्यादा को सावधानी के साथ निभाया। षट खण्डागम के टीका-

हार जिनके श्रुतज्ञान और स्मरण शक्ति को देखकर लोग अनु-मान करते थे कि जब इनका ज्ञान इतना विशाल है तब ऐसा भी हो सकता है कि कोई पुरुष जगत के सब पदार्थो को भी जानने में समर्थ हो सकता है जिसे हम सर्वज्ञ कह सकते हैं। ऐसे अद्वितीय प्रतिभाधारी ने भी अपनी बुद्धिसे कुछ कहना उचित न समझा। एक उदाहरण से ही उनकी श्रद्धा और वीतरागता का निदर्शन हो जाता है।

श्री १००८ महावीर भगवान की आयु कितनी थी इसको बतलाते हुए उन्होंने कुछ आचार्यों के मतोंका उल्लेख किया है और स्वयं शंका उठाई है कि— आपका क्या मत है? इन मतों में आप कोनसा मत उचित समझते है? इसके उत्तर में वे कहते हैं कि-- मुझे इस विषय में अपनी जीभ न चलानी चाहिये मैं अल्पज्ञ हूँ। मैं इस पर अपने ज्ञानका उपयोग नही कर सक्ता।

इससे दिगम्बर जैन आचार्य कितने मंदकषाययुक्त और अपने से बडे ज्ञानियोंको महत्त्व देते थे यह मालूम पडता है।

परन्तु कालक्रमसे इस पंचमकालके उत्तरोत्तर उत्पन्न होने वाले मनुष्यों में कषायकी मात्रा बढ गई है और वीतराग सर्वज्ञ कोई हो सकता है इस बात की श्रद्धा भी कम हो गई है इसलिये अब जिनको थोडासा ज्ञानावरणी कर्म का कुछ अधिक क्षयोप-शम हुआ, वचन शक्ति (व्याख्यान देने का ढंग) लेखन शक्ति (लेख लिखने का सामर्थ्य) सामान्य आदमियों की अपेक्षा कुछ अधिक हुई तो वे अपने ज्ञान और अनुभव को श्रेष्ठ समझने लगते

हैं। ये लोग उस अपने मलिन अपूर्ण ज्ञान और अनुभवको अपने तक ही रखते तो भी कुशल थी, उस अज्ञान अश्रद्धासे उनकाही केवल अहित होता परन्तु ऐसे लोग उस अपूर्ण अज्ञानका प्रचार दूसरों तकभी पहुंचाते हैं और अपने समान सबको करना चाहते हैं इस तरह 'सर्वज्ञ वीतराग के वाक्य ही हितकर होते हैं, उनका ही श्रद्धान करना चाहिये अपनी बुद्धिका दूषित असर न फैलाना चाहिये' इस परिपाटीका उल्लंघन वे करते हैं। ये लोग व्याख्यान देकर ही संतुष्ट हो जाते तो जो सुनते उनके समकालीन नरनारियोंका अहित होता, परन्तु ये लोग मुद्रण कलाका सहारा लेकर साहित्यमें शास्त्रोंमें अपना मंतव्य सामिल करने लगे हैं। जिससे दिगम्बर जैनोंकी शास्त्र श्रद्धाका दुरुपयोग कर अपने मंतव्य को 'सर्वज्ञ प्रणीत यह है' ऐसी श्रद्धा करने का साधन जुटाने लगे हैं और भविष्य में होने वाली दिगम्बर जैन धर्मावलंबी संतान का भी अहित करनेपर उतारू हुए हैं ऐसे लोगोंके कुछ धनाढ्य लोग भी सहायक हो गये हैं जो साहित्य प्रकाशन में अपना द्रव्य लगाते हैं।

यह लोगोंका कदम दि. जैन धर्म धारण कर अपनी योग्यतानुसार जो लोग हित करते उनके लिये खतरनाक है। इतनाही नहीं शास्त्र का लक्षण जो आचार्योंने बताया है कि— प्रत्यक्ष परोक्ष प्रमाणों से जो खंडित न होसके, कुमार्ग का खंडन करने वाला हो और आप्त (सर्वज्ञ वीतराग) से जिसकी उत्पत्ति हुई हो, उस लक्षण को भी दूषित करने वाला है। सबसे दुखकी बात

तो यह है कि अभीतक सर्वज्ञोपज्ञ होनेसे दि. जैन शास्त्रोंमें जो बातें कही हैं वे सत्य उतरती आई हैं, इसीलिये अभीतक जिनमें पूर्वापार विरोध नही पाया जाता और इसीलिये संसारके अन्य मतावलंबीयों से खंडित नहीं हो पाता परन्तु वह बात इन हरकतों से नष्ट हो जायगी क्यों कि रागी द्वेषी अधूरे ज्ञानवालोंका ज्ञान इसमें मिल जानेसे ऊपर लिखी विशेषता कैसे रह सकती है ? इस तरह महा अनर्थ का वीज ऐसे लोग बो रहे हैं और इसका फल दुर्गति के दुख पाना है यह भूल कर अपनी तथा दूसरों की आत्मा के लिये भी उस दुखकी सामग्री तयार कर रहे हैं।

हमारा कर्तव्य।

ऐसे जहां अनर्थके वीज बोये जारहे हैं, वहा दि०जैन शास्त्रोंको निर्दोष रखनेके पक्षपाती लोगोंका कर्तव्य है कि—वे इस अनर्थका सामना अपनी पूर्ण शक्तिसे करें जिससे मौजूदा लोग अहित में न फंसें और भविष्य की संतानको सर्वज्ञकी वाणी का स्वाद मिलसके।

हमारा स्वाध्याय।

हम शास्त्रोंका स्वाध्याय गुरुमुखसे करें, जिन्होंने न्याय व्याकरण शास्त्रोंका अध्ययन कर प्रथमानुयोग, चरणानुयोग करणानुयोग, द्रव्यानुयोगका अभ्यास श्रद्धापूर्वक किया है उन लोगोंकी व्याख्यान की शैली चाहै प्रिय न हो तो भी तत्त्वानुप्रेक्षण उनसे करें। इससे शास्त्रके अर्थमें गलतफहमी न होगी और श्रद्धा-

नमें शिथिलता न आवेगी। अपनी अज्ञानताको शास्त्रोंमें मिला देने वाले वे ही लोग देखे जाते हैं जिन्होंने या तो स्वयं ही मन माना अर्थ समझलिया है अथवा ऐसे लोग जिन्होंने अजैनोंसे विद्याध्ययन किया है और अजैन गुरुकी जैनशास्त्रोंमें श्रद्धा न होनेसे उन जैन कुलोत्पन्न शिष्योंमें भी जैनशास्त्रों की श्रद्धा घर नहीं कर पाई है। कोरी संस्कृत आदि भाषा के ज्ञानवल से ही अपने को शास्त्रोंका व्याख्याता समझ बैठे हैं और आचार्योंको भी असत् सिद्ध करनेमें नहीं चूकते।

ऐसे लोगोंके प्रकाशित जैन शास्त्र सम्यग्ज्ञानके लिये शस्त्र का काम करते हैं इसलिये उनका न तो स्वयं संग्रह करें और जिनमंदिरों, जैनपुस्तकालयों, जैन विद्यालयो में भी संग्रह न करने दें इस तरह इनके दुःसाहसका प्रतीकार कर जैनशास्त्रों की सर्वज्ञोपज्ञताका संरचण किया जासकता है, अन्यथा नहीं।

हमारा हित

इसी में है कि हम सर्वज्ञप्रणीत शास्त्रोंका ही स्वाध्याय करें जिन्होंने रागद्वेषको नष्ट करनेके लिये महाव्रतादि चारित्र धारण किया और श्रद्धा पूर्वक सर्वज्ञकी वाणी के अनुसार ही ग्रंथ निर्माण किया उन वीतरागी ऋषियों के रचित ग्रंथोंका ही स्वाध्याय किया जाय और उसके अनुसार ही श्रद्धान ज्ञान चारित्र का पालन किया जाय।

चारो ही अनुयोग पढने चाहिये।

सम्यग्ज्ञान के श्रीमदाचार्य समंतभद्र स्वामीने प्रथमानुयोग

करणानुयोग, चरणानुयोग और द्रव्यानुयोग इस प्रकार चार प्रकार लिखे हैं। इनका नाम उल्लेख जिस क्रमसे किया है उसी क्रमसे इनका अध्ययन करने से सुगमता पूर्वक यथार्थ आत्मा का हित होसकता है। यह परिपाटी इतनी सुंदर है कि संसारी आत्मा शीघ्रही कर्म बंधनसे छूटकर शिवस्वरूप हो जाता है। परंतु हमने इस क्रमको भुलादिया है और सबके अंतमें जिस अनुयोगका स्वाध्याय करना चाहिये, उसे हम सबसे प्रथम करने लगते हैं। उसका कुफल यह होता है कि—हमें सम्यग्ज्ञान नहीं होता, हमारा श्रद्धान सम्यक्श्रद्धान नही होपाता और चारित्रके लिये तो हम कोरे वावाजी बन जाते हैं।

श्रीमदाचार्य समंतभद्र स्वामीने अपने श्रावकाचार में एक श्लोक लिखा है कि—

पापमरातिर्धर्मो बंधुर्जीवस्य चेति निश्चिन्वन्।
समयं यदि जानीते, श्रेयोज्ञाता ध्रुवं भवति ॥१४८॥

पाप इस संसारी जीवका शत्रु है और धर्म बंधु है ऐसा पहले निश्चय करे उसके बाद समय (समयसार) का ज्ञान (अध्ययन) करे तो श्रेष्ठ ज्ञाता होता है अथवा कल्याणका भोगनेवाला होता है।

पाप से दुख होता है और इन इनने पाप उपार्जन किया, यह यह दुख भोगा इसका वर्णन प्रथमानुयोग में मिलता है। "दृष्टांते स्फुटा मतिः" दृष्टांत जानकर बुद्धि—ज्ञानमें विशदता निर्मलता आती है इसनीति के अनुसार जीव को पापसे दुख मिलता है और धर्मसे सुख। जैसेकि राम रावण आदिने पाया।

करणानुयोगका अभ्यास करनेसे यह जीव कहा कहां घूमता है कैसी कैसी पर्याय धारण करता है आदि बातोंका ज्ञान होता है और उस लोक भ्रमण से भीत हो ऐसा उपाय करता है कि-जिससे फिर भव भ्रमण न करना पडे सदा लोकके मस्तक पर एक अवस्थामें ही रहना पडे।

उन दुखदायक पापों का उपार्जन कैसे कार्य करनेसे होता है और धर्मका आचरण किस किस क्रियासे होता है यह तीसरा अनुयोग 'चरणानुयोग' बतलाता हैं। इसके अनुसार चलनेसे राग द्वेषका नाश होता है और उन रागद्वेषोंका नाश होजाने से आत्माका असाधारण लक्षण ज्ञान पूर्ण और निर्मल हो जाता है।

इन तीनों अनुयोगोंका ज्ञान होजानेके बाद द्रव्यानुयोग जब पढाजात हैं तब यथार्थ ज्ञान होता हैं। बुद्धि सर्वतोमुखी होजाती है और प्रमाण नय की व्याख्या उनका महत्त्व ज्ञात होता है।

जिनलोगोंने इस क्रमका उल्लंघनकर पहले अध्यात्मग्रंथ (द्रव्यानुयोग) पढे, उनको न तो पहले यथार्थ ज्ञान हुआ और न अब होतो हैं। केवल अध्यात्म शास्त्र को अपने मनसे बिना प्रमाण नयको समझे शब्द शास्त्र का बिना अध्ययन के पढते हैं वे मार्गभ्रष्ट होजाते हैं। अकेले ज्ञान को कार्य कारी समझ, चरित्र को अपने लिये आवश्यक नहीं समझते, वे प्रमादी बन संसारमे स्वयं भ्रमण करते है अकेले चारित्र रहित भ्रांत ज्ञान से दूसरोका भी अहित करते हैं समयसार कलश में कहा है—

मग्नाः कर्मनयावलंबनपरा ज्ञानं न जानंति ये,

मग्ना ज्ञाननयैषिणोऽपि यदतिस्वच्छंदमंदोद्यमा: ।
विश्वस्योपरि ते तरंति सततं ज्ञानं भवंत: स्वयं,
कुर्वंति न कर्म, न वशं यांति प्रमादस्य च ॥

इसका अभिप्राय यह है कि—केवल 'कर्मनय' व्यवहार नयका जो अवलंवन लेते है, 'ज्ञाननय' निश्चय नयको छोड बैठते हैं, वे संसारमें मग्न (डूब) होते हैं उनका भव भ्रमण नहीं मिटता, कारण को उन्होंने कार्य समझ लिया। जिन्होंने कर्मनय को तो छोड दिया और 'ज्ञाननय' को पकड लिया और उद्यम-चारित्र को छोड दिया, स्वच्छंद हो प्रवृत्ति करने लगे, उन्होंने कार्यको कारण समझ लिया। इस तरह एकान्तको पकडने वाले दोनोंही संसारका नाश नहीं कर सकते। ये संसार समुद्रमें मग्न ही रहेंगे। हां! जो ज्ञाननयको तो साध्य समझते है और कर्म-नयको उसका साधन समझ प्रवृत्ति करते हैं प्रमादी नहीं बनते अर्थात् ज्ञान चारित्र दोनोंका आश्रय लेते है वे संसारके ऊपर-सिद्ध लोकमें पहुंच जाते हैं।

यहां आचार्यने व्यवहार और निश्चय नाम न लिखकर 'कर्मनय' और 'ज्ञाननय' शब्दोंका उल्लेख किया है। इसका अभिप्राय यह है कि संसारी जीव अकेला नहीं है, दूध पानी जैसे एक साथ मिले ही जन्मसे होते हैं ऐसे ही अनादि काल से कर्म (पुद्गल) और ज्ञान दोनों संयुक्त ही चले आरहे हैं। इस-लिये जब दो द्रव्य मिश्रित हैं तब दोनोंका ही असर देखने में

आवेगा। शब्द दो बातें एक साथ नहीं कह सकते इसलिये क्रम से कहा जायगा। जब कर्मके प्रभावकी मुख्यतासे, विवेचन करना होगा तब कर्मका प्रभाव क्या क्या होता है, उससे जीवकी क्या हालत होती है वह सब बतानी होगी। कर्मका प्रभाव किस तरह कम हो सकता है इसके उपाय का भी विवेचन करना होगा और उपाय जाननेसे ही काम न चलेगा, उसका आचरण भी करना होगा जिससे कर्मका संयोग ही आत्मासे छूट जाय। जब संयोग ही न रहेगा तब ज्ञान (आत्मा) पर कर्मका असर ही क्या पड सकता है?

जब जीवकी मुख्यतासे विवेचन किया जायगा तब जीव का असाधारण लक्षण ज्ञान है; उसका मुख्य विवेचन होगा और उसका स्वरूप क्या है; कैसा है आदि कहा जायगा। कर्मका या उस कृत प्रभावका कोई विचार ही न होगा।

जो इस अपेक्षा भेदोंको नहीं समझते और इसीलिये अनेकांतके पक्षपाती होकर भी एकान्तमें उलझ जाते हैं वे कर्मबंधन रहित जीवके स्वरूपको अपना स्वरूप समझने लगते हैं।

जैसे एक आदमी छोटे दरवाजे वाले कमरेमें बैठकर बडे लंबे डील डौल वाले बडे सींग वाले भैंसेका ध्यान करने लगा। ध्यान करते करते वह ऐसा तन्मय हो गया कि-अपने को भूल गया स्वयं को भैंसा समझने लगा और लोगोंसे चिल्ला चिल्लाकर कहने लगा भाइयो! यह छोटा दरवाजा है इसमेंसे मैं नही निकल सकूंगा। इसलिये दरवाजा तोड दो और मुझे निकल

आनेका सुभीता कर दो। लोग उसकी चिल्लाहट सुनकर आश्चर्य में आगये कि-कैसा यह आदमी है, अपने रूपको नहीं समझता। इसमेंसे तो यह बखूबी निकल आ सकता है। मालूम पडता है पागल हो गया है।

बस! यही हालत हमारे निश्चयावलंवी भाइयोंकी होरही है। कर्म संबंध रहित आत्माका स्वरूप पढते पढते वे अपनी कर्म-बद्ध अवस्था को भूल जाते है और मेरी आत्मा तो अबद्ध है, अस्पृष्ट है, त्रिकालज्ञ है, आदि आदि रट लगाते नहीं थकते। इनको जब कोई दयालु ज्ञानवान् समझाता भी है तो भी ये नहीं समझनेकी कोशिश करते है। इसके विपरीत उस ज्ञानीको अज्ञानी समझ तिरस्कार ही करते है।

इस क़िस्मके जीवोंमें सौमे निन्यानवे हठी जिद्दी मिजाजके होते हैं और लडने झगडने पर उतारू रहते है। यह रोग इस तरह फैल गया है कि—दि० जैन समाजका कोई शहर कस्वा कदाचित ही बचा हो, जहां ऐसे निश्चयावलंवी अपनेको सिद्ध स्वरूपी साक्षात् समझनेवाले न पैदा हो गये हों।

एक तो गिलोय; ऐसे ही कडुवी; और उस पर चढ गई नीम पर। फिर भला! कडुवी क्यों न होगी। यही हालत हो रही है। एक तो इस पंचम कालमें जीवोंकी संगति खोटी; कषाय की बहुलता और चारित्रकी तरफ दुर्लक्ष्य। इसलिये हमारे युवक इसी तरह चारित्र कुलाचारसे दूर रहना चाहते हैं। अव उनको ऐसे उपदेश भी मिलगये जो चारित्रकी अनर्थकता बत-

जाने लगे। हिंसा आदि पापोंका आत्मासे संबंध कुछ नहीं ..., व्रताचरण जिनपूजा दान तीर्थ यात्रा आदि करनेसे संसार भ्रमण होता है इसलिये ये हेय हैं यह भी उपदेश मिलने लगे तब भला इस संसारी आत्माको दुख देने वाले आर्तरौद्र ध्यानोंका अभाव कैसे होगा और रागद्वेषका नाश कैसे होगा और ज्ञानकी पूर्णताही कैसे होगी ?

ऐसे अनर्थकर व्याख्यानों तथा लेखोंका असर कैसा होता है यह आप ऐसे लेखों व्याख्यानों से प्रभावित पुरुष स्त्रियों को विचारपूर्वक देखेंगे तो मालूम पड जायगा। मैं आपको एक घटना सुनाता हूँ। कोई पांच या छह साल पहले की बात हैं निश्चयनय का प्रचार सुसंघटित रूपसे करने वालों का उद्यम चालू हो गया था और गुजराती में पुस्तकें प्रकाशित होने लगी थीं। श्री पार्श्वनाथ दिगम्बर जैन मंदिर उपवन बेलगछीया— कलकत्तामें मैं प्रतिदिन स्वाध्याय पूजन करने जाया करता। भादों सुदी ४ चौथका दिन था, चार पांच गुजराती भाई थैलों में कुछ पुस्तकें लटकाये आये। उन्होंने कहा हम कांजी स्वामी की कृपासे दिगम्बर जैन होगये है हमारे आज उपवास है, स्वाध्याय ग्रंथ पठन करेंगे, दिनभर रहनेका विचार है इसलिये हमें स्थान बता दीजिये मैं उनकी बात सुनकर प्रसन्न हुआ मनमें सोचा स्थानकवासी श्वेतांबरीयों की संवत्सरी है। इन लोगोंका पर्यूषण आजही खतम होता है कलकत्ते में बाजार बंद रहता है और नवीन दिगम्बरी बने हैं इसलिये दिगम्बरी पर्यूषणका दिन मालूम नही यह विचार

कर उन्हे एक कमरा बता दिया और दरी बिछवादी। इसके बाद अनुमान ११–१२ बजे होंगे, मैं उनके स्वाध्याय प्रेम का दिग्दर्शन करने गया, वहां मैने उनको जलकल (नल) से ओक (हाथ) लगाकर बिना छाना पानी पीते देखा और कहा कि-भाई यह क्या ? आपके तो आज उपवास है, पानी पी रहे हैं ! और वह भी विना छाना ? मेरी बात का उत्तर देते हुए उन्होंने कहा--क्यों इसमें क्या दोष है। यह तो पुद्गल है, शरीर भी पुद्गल है। पुद्गल को पुद्गल ग्रहण कर रहा है। आत्माका इस से क्या सम्बन्ध। आत्मा चेतन जल अचेतन, इसलिये इन दोनोंका कोई सम्बन्ध ही नही हो सकता।

यह सुनकर मेने उनसे पूछा— भाई ! आप किस ग्रन्थ का स्वाध्याय करते है ? तो उन्होंने 'सोनगढ का साहित्य' दिखलाया और प्रशंसा की। मैंने सोचा धन्य है–ऐसे प्रचार को।

ऐसे एक नहीं अनेक दृष्टांत मैंने कलकत्ते में रहते समय देखे। आपको भी देखने मिले होंगे और चारित्रका तिरस्कार कैसे होता है इसकी भी नजीर देखने मिली होगी।

यह तो स्थानकवासी दिगम्बर जैन बने अब एक दृष्टाँत दिगम्बर जैनी कैसे होगए इसका भी सुन लीजिये।

लगभग दो साल की बात है चाकसू में श्रीमदाचार्य वीर-सागरजी अस्वस्थ थे। लोग उनके दर्शन को आया करते। जयपुर समीप है, श्यायद ही ऐसा कोई खंडेलवाल जैन हो, जिसका कुछ न कुछ संबन्ध जयपुर से न हो। इसलिये प्रायः लोगोंका आवागमन चालू रहता। एक महाशय इंदोर से आये। कलकत्ता

में रहते तबसे मेरा परिचय था। अंग्रेजी में बी०ए०, और संस्कृतको भी समझने की थोडी बहुत सामर्थ्य ; शास्त्रोंका स्वाध्याय करने वाले। आपको देखकर मैं बडा खुश हुआ परन्तु जब इनके बिस्तर आदि सामान को देखा तो आश्चर्य में आगया आपका बिस्तर चमडे से वेष्टित था जिससे दुर्गंध निकल रही थी टिफिन में भोजन का सामान था उसी चमडेसे मित्रता गाठें हुए था। यह देखकर मैंने उनसे कहा कि— जी! आप इस चमडे को व्यवहार करते हैं और खाना छूनेका भी विचार नहीं। तो मेरी बात सुनकर आप इस ढंगसे मुस्करा दिये मानो मैंने उनसे कोई ऐसी बात कही जिससे मेरी मूर्खता साकार होगई हो। फिर आपकी बात चीत भी आचार्य महाराज से हुई तो उन बातों को सुनकर यह मालूम पडा कि— आप पर भी सोनगढ के सोने का मुलम्मा चढा हुआ है। यह मुलम्मा भी इतना गहरा कि— उसकी कोई समालोचना करे तो आप सह नहीं सकते। फौरनही समाचार पत्रों में छपा देते हैं।

एक और विलक्षणता

ऐसे निश्चयावलंबी अपनेको श्रेष्ठज्ञानी समझते हैं और चारित्र धारियों को अज्ञानी दयाका पात्र समझते है और कहा करते हैं कि ये बिचारे देहाश्रित क्रिया करते है और व्यर्थही समय गंवाते हैं इसी विचार से यह लोग चारित्र धारियों का विनय नहीं करते

आप यदि निश्चयावलंबी हैं और निष्पक्ष बुद्धिको सर्वथा नहीं छोड बैठे हैं तो इस बातका हरगिज विरोध नहीं कर सकते अपने हृदय को टटोल कर देखलें।

संसारके कारण

इन लोगों की सूझ बहुत उडानभरती है ये जिनेंद्रपूजाआदिको संसारका कारण बतलाते हैं परंतु यह नहीं विचारते कि—

इस संसारी जीव का मन वचन और कायसे अनादि कालका संबंध है। इनके कारण आत्म प्रदेशोंमें सदा हलन चलन हुआ करता है और जब तक इनमेंसे एक या अनेक का संबंध रहता है तब तक हलन चलनके कारण कर्मोंका आस्रव भी हुआ करता है। आप चाहैं कि हम इन तीनोंका सहारा छोड दें तो यह नहीं हो सकता। मन वचन कायकी प्रवृत्ति दो तरहकी होती है—शुभ और अशुभ। महाव्रत अणुव्रत जिन पूजा आदिमें प्रवृत्ति करना शुभ प्रवृत्ति है। पांच पाप सात व्यसन आदि निंदनीय कार्योंमें मन वचन कायको लगाना अशुभ प्रवृत्ति है। इन दोनों प्रवृत्तियोंका अनादि कालसे संस्कार चला आया है इसलिये कभी कोई ज्यादा कभी कोई ज्यादा कभी कोई कम अशुभ अथवा शुभ प्रवृत्ति हुआ करती है।

शुभमें प्रवृत्ति प्रयत्न करनेसे भी कठिनता से होती है और अशुभ में प्रवृत्ति स्वयं विना किसी प्रयत्न के होती रहती है जैसा कि हम लोगों के अनुभव में दिनरात आता रहता है। इन दो प्रवृत्तियों को छोडकर संसारी जीव यह चाहे कि मैं तीसरी शुद्ध प्रवृत्ति करलूं और उसीमें लीन रहा आऊं तो असंभव है।

यह तीसरी प्रवृत्ति करने की सामर्थ्य इसकाल में उत्पन्न हुए मनुष्य के संहननादि योग्यता का अभाव होनेसे लाख प्रयत्न करने

पर भी नहीं हो सकती। जब यह बात है कि अशुभ शुभ दोही प्रवृत्ति हो सकती हैं तब विचारने की बात है कि– हमें कौनसी प्रवृत्ति करना चाहिये और कौनसी नही।

अशुभ प्रवृत्ति करनेसे आर्त रौद्र दुर्ध्यान होते है, उनसे पाप कर्म का बन्ध आत्मासे होता है, उस पाप कर्मका परिणामकाल जब आता है तब नरक तिर्यंच आदि दुर्गतिमें शरीर धारण करना पडता है और नाना दुख भोगने पडते हैं जिन दुखों को यह जीव भोगना नहीं चाहता।

शुभ प्रवृत्ति से जितने अंश में राग भाव है उससे पुण्य बन्ध होता है और जितने अंश में वीतरागता है उससे कर्मोंका संवर होता है पुण्य कर्मके परिपाक काल में जीव उच्च देव उच्च मनुष्य आदि शुभ गतिमें जाता है। जहां वे सांसारिक सुख प्राप्त होते हैं जिन्हें यह छोडना नहीं चाहता। पाप फल की तरह पुण्य फल भोगनेसे दूर भागना नहीं चाहता बल्कि उसीमें संलग्न रहना चाहता है। कर्मोंका संवर होने से संसार की परंपराका नाश होता है। और एक दिन यह जीव मुक्त हो सकता है।

जीव की जब ऐसी हालत है तब ऐसा उपदेश देना कि- देव पूजा, व्रत पालन करना हेय हैं, ये संसार के कारण हैं, 'मरे को मारै शाह मुराद' वाली कहावत चरितार्थ करना है। एक तो ये जीव अनादि कुसंस्कार के वश धार्मिक क्रियाओंसे धर्मध्यानके कारणोंसे ऐसेही दूर भागते हैं और दुखोंके साधन जुटाते रहते हैं अब ऐसा उपदेश पा जानेसे भला वे धर्मध्यान क्यों करेंगे?

धर्मध्यान का फल आचार्योंने 'परे मोक्षहेतू' इस सूत्र में मोक्ष का हेतु बतलाया है तब ये लोग इसको संसार का कारण बतलाते हैं। जिनेन्द्र भक्तिको मुक्तिका कारण जगह जगह शास्त्रों में बतलाया है और इसके बिना किये सम्यग्दृष्टि रह नहीं सकता इस लिये छह आवश्यकोंमें गिनाया है। तब इन निश्चयावलंबीयोंको यह संसार की कारणभूत दिखती है।

सर्वज्ञ वीतराग का ही दूसरा नाम जिनेन्द्र है। चारघातिया कर्म का आत्मासे जब सर्वथा संबन्ध हट जाता है तब यह दोनों गुण आत्मा में व्यक्त हो जाते है। इन गुणों के इच्छुकको जिसने ये गुण प्राप्त कर लिये है, उसकी भक्ति करना सर्वथा उचित है। इससे कषायों का अभाव होता है, कषायों के अभावसे आत्मामें असली सुखका अनुभव होता है, पाप कर्मका आश्रव नहीं होता। जिनसे आत्मा अपना हित कर सके ऐसे साता वेदनीय शुभनाम शुभ गोत्र शुभ आयु कर्मका आश्रव होता है और उनके परिपाक काल में महाव्रत आदि धारणकी योग्यता, शुक्लध्यान करने लायक संहनन आदि साधन प्राप्त होते हैं जिससे शरीर से शरीर जडमूल से नष्ट हो जाता है। वह आत्मासे पृथक् हो जाता है, और इस तरह चेतन अचेतन का अनादि कालीन संबन्ध सदाके लिये हट जाता है।

इसीप्रकार निमित्त उपादान सम्यग्दृष्टी मिथ्यादृष्टि आदि अनेक विषय है जिनपर इनके एकांतिक विवेचन है और प्रचार कुशलता के कारण जनता के शिर मढे जा चुके हैं

अब इतनी देर बाद हमारे विद्वानों का प्रयत्न उस एकांत धारणा को रोकने का हुआ है और आशा है बराबर प्रयत्न चालू रहेगा तो सत्य मार्ग का प्रकाश अवश्य होगा जिसपर चलकर जनता अपना हित कर सकेगी।

यह पुस्तिका भी इसीलिये लिखी गई है कि--ठीक ठीक मार्ग पर चलकर जनता अपना कल्याण कर सके और जिन लोगो की भ्रांत धारणा बन चुकी है वे अपनी धारणा सुधार लें।

एक पुस्तिका वादीभ केशरी न्यायालंकार आदि उपाधि भूषित पं० मक्खनलालजीकी लिखित प्रकाशित हुई है जिसमें दिगम्बर जैनागमका सही दृष्टिकोण बतलाया गया है उसे पढकर भी सत्य मार्ग जाना जा सकता है।

श्रीलाल जैन काव्यतीर्थ
मन्त्री भारतीय जैन सिद्धांत प्रकाशिनी संस्था
श्री महावीरजी (राजस्थान)



श्री वीतरागाय नमः।

नागौर (रास्थान) निवासी ब्रह्मचारी पंडित

चांदमलजी चूडीवाल कृत

कांजी-मत विवेचन ।

प्रप्रणम्य जिनाधीशं सर्वज्ञं वीतरागकं ।
सप्रमाणं प्रवक्ष्येऽहं, कांजी-मतविवेचनं ॥१॥

निश्चयं नयमालंब्य, व्यवहारविलोपकः ।
कलावयमवतीर्णः ख्यापयन् स्वं दिगम्बरं ॥२॥

गतानुगतिको लोको गड्डलिकासमूहवत् ।
अविवेच्य मुह्यते वाक्यैः कर्णेषु सुखावहैः ॥३॥

जिनलिंगवहिर्भूतमन्यलिंगं दधाति यः ।
कथं भवेत् स सम्यक्त्वी दिगम्बरजिनानुगः ॥४॥

सद्गुरुश्च कथं स स्यात्, परिग्रहसमन्वितः ।
विद्वांश्च कथं स स्यादेकान्तमतमाश्रितः ॥५॥

अर्थ—जो सर्व पदार्थों की सर्व कालकी पर्यायों को एक समयमें जाननेके कारण सर्वज्ञ हैं। रागद्वेषका सर्वथा नाश हो जाने के कारण जो वीतराग हैं, चार घातिया कर्मों का सर्वथा नाश कर देनेके कारण जो जिनाधीश हैं ऐसे सकल-सशरीर परमात्मा अर्हद् भगवान को नमस्कार करके 'कानजी मतका विवेचन' आगम के प्रमाण देकर मैं करूंगा।

कानजी भाई जो गृहस्थ होते हुए भी कानजी स्वामी के नामसे विख्यात है, वे निश्चय नयको तो मानते हैं परंतु व्यवहारनय को काममें लाते हुए भी उसे मानलेने का दूसरों को निषेध करते हैं। ये अपने को दिगम्बर जैन बन गये हैं ऐसा कहते हैं और कलिकाल के माहात्म्य से इनका आविर्भाव हुआ है। लोग विचारशील बहुत कम होते हैं, भेड़ों के समान एक दूसरे की नकल करते है और कर्णप्रिय ललित वाणी से मुग्ध हो जाते है। व्याख्यान देने की कलासे लोग सहज ही वश हो जाते हैं और व्याख्यान गत अभिप्राय की तह तक पहुंचने की सामर्थ्य नहीं रखते।

यदि लोग दिगम्बर जैन आगम की आज्ञाके अनुसार अपने ज्ञानका उपयोग करें तो सहज ही जान सकते हैं कि दिगम्बर जैनाचार्य अथवा मुनि ही सद्गुरु होते हैं। परिग्रह-धारी, सवस्त्र गृहस्थ सद्गुरु नहीं होते। जो सवस्त्र होकर भी अपने को सद्गुरु कह लाने, अथवा सद्गुरु कहने वालों को

न रोके, निषेध न करे और इस तरह दिगम्बर जैन शास्त्रके विपरीत लिंग (भेष) धारण करे वह भला ! कैसा सम्यक्त्वी (जिनआज्ञापालक) और कैसा दिगम्बर जैन।

जो एक नयको ही माने, व्यवहार का लोप करे, वह कैसा विद्वान् ? और कैसा विचारशील ?

बाहिरी भेष से ही अंतरंगका ज्ञान होता है। यह पुरुष किस राजाका नौकर है यह उसकी चपरासमे ही जाना जाता है इसी तरह यह किस मत या धर्मका अनुयायी है यह उसके बाहिरी भेपसे सहज ही जान लिया जा सकता है।

जैसा कि कहा है—

मुद्रा सर्वत्र मान्या स्यान्निर्मुद्रो नैव मन्यते।
राजमुद्राधरोत्यन्तहीनवच्छास्त्रनिर्णयः॥

अर्थात् मुद्रा ही सर्वत्र माननीय होती है, विना मुद्रा, या भेष, या चिन्ह चपरास, के कोई भी आदरणीय नहीं होता। इसलिये द्रव्यलिंग ही आदरणीय होता है, क्योंकि, भावलिंग किसीको दिखाई नहीं देता। भावलिंग की पहिचान भी द्रव्य-लिंगसे ही होती है, विना द्रव्य लिंग के भावलिंग नहीं होता यह दिगम्बर सिद्धांत का अटल नियम है।

"द्रव्यलिंगसमास्थाय भावलिंगी भवेद्यतिः।
विना तेन न पूज्यः स्यान्नानाव्रतधरोपि सन्" ॥७४

—नीतिसारसमुच्चय

टीका-यतिः साधुः द्रव्यलिङ्गं वक्ष्यमाणलक्षणं समास्थाय सम्यक्प्रकारेण धृत्वा भावलिङ्गी जितकषायो भवेत् स्यात्। तेन द्रव्यलिङ्गेन विना नानाव्रतधरोऽपि अनेकसिंहनिष्क्रीडितादिव्रतधरोऽपि सन् पूज्यो माननीयो न भवेत्। तथा तेन द्रव्यलिङ्गेन बाह्यनिर्ग्रंथरूपेण विना विविधतपांसि धरन्नपि कुर्वन्नपि पूज्यो लोकमान्यो न भवेत् इत्यर्थः।

अर्थात्—वक्ष्यमाण द्रव्यलिंगको उत्तमतासे धारण कर भावलिंगी यति होता है उस द्रव्यलिंगके धारण किये विना वह व्रती भावलिंगी नहीं हो सकता अत एव पूज्य प्रशंसनीय भी नहीं होता चाहे कितने ही व्रत तप करें। इसी ग्रन्थ में और भी इसी विषय में कहा है—

"अचेलत्वं शिरःकूर्चःलोचोधःकेशधारणम्।
निराभरणतोच्छिन्नदेहतापिच्छधारणम् ॥७५॥
द्रव्यलिंगमदो ज्ञेयं भावलिंगस्य कारणम्।
तदध्यात्मकृतं स्पष्टं न नेत्रविषयं यतः" ॥७६॥

टीका—अदः एतद्द्रव्यलिंगं ज्ञेयं ज्ञातव्यम् एतत् किमिति समाधत्ते। अचेलत्वं दिगम्बरत्वं वस्त्रमात्रत्यागता शिरःकूर्चलोचो मूर्ध्नःशिरसः श्मश्रूणां च केशानां उत्पाटनं तथा अधःकेशधारणमधोभागे केशानां रक्षणं निराभरणता निर्भूषणता

अच्छिन्नदेहता अच्छिन्नमछिद्रं मत्रुटितमवयवं शरीरं यस्य स अच्छिन्नदेहः तस्य भाव अच्छिन्नदेहतां शरीरावयवाः कर्णादयः विभिन्नाः न स्युः। पिच्छधारणम् मयूरपिच्छिकाग्रहणम्। एतद् द्रव्यलिंगमेव ज्ञेयं तदेव भावलिंगस्य कारणं साधनं भवत्येव यतः यस्माद्धेतोः तत् अध्यात्मकृतं भावलिंगं स्पष्टं साक्षाद् नेत्र-विषयं चक्षुषां विषयं गोचरं न भवति। अतएव द्रव्यलिंगेन सहैव भावलिंगं पूज्यं मान्यं भवति।

अर्थात् द्रव्यलिंग (बाह्यचिन्ह) ये हैं अचेलत्व सूती, ऊनी व चर्मके तथा सनके इत्यादिकके वस्त्रोंका त्याग १ शिर और दाढी मूछों के बालों का लोंच करना (हाथसे उपाड़ना) तथा नीचेके बालों का न उपाड़ना, कोई तरह के आभूषण न पहिनना ३ देहके किसी भी अंग प्रत्यंगोंको छेदना नहीं, सबको ठीक करना जैसे लिंगको काट लेना, आखें फोड़ लेना कान कटा लेना आदि न छेदना ४ मयूर के पंखोंकी पिच्छिका हर समय अपने पास रखना ५ ये साधुओं के पांच द्रव्यलिंग है जो भावलिंग के साधक है। इन द्रव्यलिंगों के विना धारण किये भावलिंग भावनिक्षेप स्वरूप मुनिलिंग नहीं होता स्पष्ट नेत्रों का विषयभूत नहीं है न हो सकता है क्योंकि भाव मुनि-लिंग आत्मस्वरूप है।

इस कारण आचार्य कहते हैं कि द्रव्यलिंग जिसका यथा-वत् नहीं है वह बन्दना करने योग्य नहीं है।

"स्थावरं देहभेदेन व्रतभेदेन लिंगिनम् ।
उभयोर्भिन्नलिंगत्वान्नार्चयेन्नाभिवन्दयेत् ॥७८॥

टीका—देहभेदेन शरीरछेदेन स्थावरं मूर्तिं पुनश्च व्रतभेदेन अचेलत्वादि व्रतभंगेन लिङ्गिनं साधुं नार्चयेत् न पूजयेत् न चाभिवन्दयेत् नहि नमस्कुर्यात् । कुतः उभयोः जिनप्रतिमायाः निर्ग्रथसाधोश्च भिन्नलिङ्गत्वात् विदीर्णलक्षणत्वात् ।

अर्थात्—प्रतिमाजीके शरीर की आकृतिमें भेद (फर्क) पड़ जानेमें वीतराग प्रतिमा और साधुजनों के बाह्य दर्शनीय व्रतोंमें (अचेलक आदिकोंमें) भेद (हीनता) होनेसे उनको पूजे नहीं तथा वन्दना करे नहीं क्योंकि इन दोनोंमें (प्रतिबिम्बमें तथा साधु शरीर में) बाह्यवीतरागता के लिंगों के स्वरूपमें (विदीर्णता नाश) भेद होरहा है। जिस प्रकार नासाग्रदृष्टि आदि वीतरागता के न होने पर मूर्ति अपूज्य है उसी प्रकार अचेलत्वादि वीतरागताके न होने पर साधुभी अवन्दनीय है। यदि उनको वन्दना करें तो चार लाख पर स्त्री भोगने के पापके समान पाप लगता है ऐसा आचार्यों का कहना है।

एकवारं नमस्कारे परदेवे कृते सति
परदारेषु लक्षेषु तस्मात्पापं चतुर्गुणं

कुगुरु कुदेव कुधर्म नमस्कार इकवार,
चार लाख परनारका दोष लगे निर्धार ॥

अब कहिये कांजीस्वामी अपनेको अव्रती भी बताते हैं और अपना बाह्य भेष भी स्थानकवासी यतियों का सा धारण कर रखा है फिरभी आप अपनेको "परम सुगुरुदेवाय कांजी स्वामिने नमः कहलातेहै। क्या दिगम्बर आम्नायसे ऐसा विपरीत आचरण करनेवाला दिगम्बरी कहलानेका दावा कर सकता है ? कदापि नहीं दिगम्बर आम्नायमें तो तीन लिंगही पूज्य हैं सोही कुन्दकुन्द आचार्य ने दर्शनप्राभृतमें कहा है।

एक्कं जिणस्स रूवं बीयं उक्किट्ठसावयाणं तु
अवरट्ठियाण तइयं चउत्थं पुण लिंगदंसणं णत्थि

टीका— एकमद्वितीयं जिनस्य रूपं नग्नरूपं द्वितीयं उत्कृष्ट-श्रावकाणां तु अवरस्थितानां आर्यकाणां तइयं। अपरस्थिता-नामार्यिकाणां तृतीयं, दर्शनं चतुर्थं पुनर्लिंगदर्शनं नास्ति, त्रीण्येव जिनशासने लिंगदर्शनानि प्रोक्तानि न न्यूनानि नाप्यधिकानीति शेषः।

अर्थात् जिनशासनमें दर्शन करने योग्य पूजनेयोग्य नम-स्कार करनेयोग्य एक जिनलिंग कहिये नग्न दिगम्बर साधुका दूसरा उत्कृष्ट श्रावक का लिंग, तीसरा आर्यिका का लिंग, ये तीन लिंग हैं, न इससे हीन है न अधिक है। जो अव्रत अवस्था में और पाखंड भेषमें अपने को दिगम्बर जैन कहलाकर अपने में पूज्य स्वामीपना कायम करते है, और मुनि, या उत्कृष्ट श्रावक एव ब्रह्मचारी वगेरह जो मिथ्या अध्यात्मीक रसके

पिपासु जाते हैं उनका निरादर करते हैं अर्थात् उनको अपनेसे ऊंचे आसनपर नहीं बिठलाते समान या नीचा बिठलाते हैं और नमस्कारादि भी नहीं करते, उनके सामने स्वयं महंत बनकर उच्चासन आरूढ़ होकर उनपर अपना प्रभाव डालते है यह पाखंड नहीं तो और क्या है ?

यदि उनके अन्तरंग में दिगम्बर धर्मकी श्रद्धा हुई होती तो उनका बाह्यभेष और उनकी प्रवृत्ति एवं क्रियाकलाप दिगम्बर-पनेका हुये बिना नहीं रहता, जैसा अंतरंग वैसा बहिरंग अर्थात् अंतरंगमें यदि क्रोध होगा तो बाह्य में लालनेत्र ओष्ट कम्पायमानादि हुये बिना नहीं रहेगा इस सिद्धांतानुसार जो दिगम्बर धर्मका धारी होगा वह सबसे पहिले अपने भेष को दिगम्बर सम्प्रदाय के अनुरूप करेगा इसके पश्चात अपने पदस्थके अनुसार खानपानकी शुद्धि करेगा और अपनेसे जो पदस्थमें ऊंचे हैं उनको नमस्कारादि करेगा क्यों कि यह जिना-गमका प्रथम आदेश है।

आगते स्वागतं कुर्याद् गच्छन्तं न निवारयेत्
तिष्ठन्तं कारयेद्भिक्षामेष धर्मः सनातनः ॥

टीका—कुतश्चिदागते आयाते साधौ च स्वागतं आदृतं कुर्यात् गच्छन्तं स्वस्थाने यांतं न निवारयेत् न निरुद्धयात् तिष्ठंतं स्वस्थाने निवसंतं साधुं भिक्षां चर्यां कारयेत् विधापयेत् एषः धर्मः असौ समाचारः सनातनः नित्याचाराङ्गप्रसिद्धः (नीतिसार)

अर्थात् साधु अपने यहां आये हुये साधुओंका स्वागत करे जानेपर उसको रोके नहीं और अपने यहां निवास करें तो भिक्षा भोजन करावे यह समाचार धर्म अनादिनिधन है।

इस धर्म के विपरीत जो प्रवृत्ति करता है वह दिगम्बरी जैन कहलानेका हकदार नहीं है। सम्यक्त्वी होने की बात तो कोसों दूर है।

"न धर्मो धार्मिकैर्विना" अर्थात् धर्मात्माके बिना धर्म नहीं है क्योंकि धर्म धर्मात्माके आश्रय ही रहता है अतः धर्मात्माकी अवहेलना करनेवाला धर्म की अवहेलना करता है अर्थात् अनादर करता है ऐसा समझना चाहिये। अन्यथा "समानशीलेषु मैत्री" इस न्यायानुसार समान धर्मवालोंमें प्रीति मैत्री होना परमावश्यक है। और उस के निश्चय सम्यक्त्व वर्तमानमें नहीं है तो भी निश्चय सम्यक्त्वका साधनभूत व्यवहार सम्यक्त्व तो उसके अवश्य कहा जा सकता है। किन्तु धर्मात्माका अनादर करनेवालोंके व्यवहार सम्यक्त्व ही नही तब निश्चय सम्यक्त्व मानना नितांत अज्ञानता है। इसके अतिरिक्त कुभेषमें (अन्यलिंगमें) सम्यक्त्वका सद्भाव नही है इस बात को कुन्दकुन्दस्वामी रयणसारमें घोषित करते है।

कुतव, कुलिंग, कुणाणी,
कुवय, कुसीले, कुदंसण कुसत्थो

कुणिसित्ते संथुइयथुइ
पसंसणं सम्माहाणि होइ णियमं ॥

अर्थात् मिथ्या तपश्चरण करनेवाले कुलिंग (कुत्सित भेष) को धारण करनेवाले, मिथ्याज्ञानकी आराधना करनेवाले, कुशील सेवन करनेवाले, कुत्सित व्रताचरणों को करनेवाले, मिथ्या दर्शनके भाववाले, मिथ्या शास्त्रोंका पठनपाठन करनेवाले, कुत्सित आचरण करनेवाले, मिथ्या धर्म, मिथ्या देव और कुगुरू की प्रशंसा करनेवाले, मनुष्य नियमसे सम्यक्त्वसे रहित मिथ्यादृष्टि होते हैं अतः इस सिद्धांतानुसार अन्य भेषमें सम्यक्त्व नहीं होता।

कुन्दकुन्दस्वामीके वचनोंको प्रमाणभूत माननेवाले कानजी स्वामी अपने स्थानकवासी भेषको नहीं छोड़ेंगे और दिगम्बरी भेषको नहीं धारणकरेंगे तबतक दिगम्बरी और सम्यक्त्वी कहलाने के पात्र किसप्रकार बन सकते हैं ?

क्योंकि द्रव्य चारित्रके बिना भाव चरित्र नहीं होता अतः भावचारित्र होनेमें मुख्यकारण द्रव्यचारित्र माना गया है। भगवती आराधना सारमें ऐसा स्पष्ट कीया है। पत्र सं० ३८८ १७३-१७४

जा उवरि उवरि गुणपडिवत्ती सा भावदोसिदिहोदि
द्रव्य सिदी णिस्सेणी भावाणं आरुहंतस्स ॥

टीका-- उपर्युक्तपरि शुद्धेषु गुणेष्वारुह्यते यया।
भावश्रितिरभाष्येषा मतिशुद्धा जीववासना ॥

मंदिरादिषु तुंगेषु सुखेनारुह्यते यया।
द्रव्यश्रितिर्मता प्राज्ञैः सा सोपानादिलक्षणा ॥

उवरित्यादि ज्ञानश्रद्धानसमभावानां गुणानां प्रवृत्तानामुपर्युपरिगुणानां तथाभूतानामेव प्रतिपत्तिः परिणतिः भावदोसिदि भावेन परिणामेन श्रितिः परिणामसेवेति यावत् द्रव्यसिदि श्रीयते इति श्रितिः द्रव्यं च तच्छ्रितिश्च सा द्रव्यश्रितिः आरुहंतम्स प्रासादमिव मोक्षमारोहतश्चढतः।

भावार्थ सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, और सम्यक्चारित्र इन गुणोंकी वृद्धि गुणितरूपसे उत्तरोत्तर उन्नतावस्थाको प्राप्त करना इसको भावश्रिति कहते है। और इस भावश्रितिको प्राप्त करनेमें द्रव्यश्रिति प्रधान कारण है। जिसप्रकार उच्चस्थान में स्थित पदार्थको कोई प्राप्त करना चाहे तो उसको निसेणीका आश्रय लेना पडता है विना निसेणीके छतपर का पदार्थ प्राप्त नहीं होता उसीप्रकार भावों की विशुद्धि बाह्य द्रव्यों के विना त्याग कीये भावचारित्र प्राप्त नहीं होता।

इस विषयमें और भी इसी मूलाराधनामें खुलासा कीया है

जह कुडओ ण सक्का सोधेदुं तन्दुलस्स सतुसस्स।
तह जीवस्स ण सक्का मोहमलं संगसत्तस्स ॥

बाह्यं मलमनिराकृत्याभ्यंतरकर्ममलं ज्ञानदर्शनसम्यक्त्व

चारित्र वीर्याव्यावाधत्वानामात्मगुणानां छादने व्यापृतं न निराकर्तुम् शक्यते इत्येतद् दृष्टांतमुखेनाचष्टे ।

नाभ्यंतर : ससंगस्य साधो : सोधयितु मल : शक्यते सतुषस्येव तंदुलस्य कश्चात्र जइ कुण्डओ ण सक्का तुससहितस्य तंदुलस्यांतर्मलं वाह्ये तुपेऽनपनीते यथा शोधयितुमशक्यं तथा वाह्यपरिग्रहमलसंसक्तस्याभ्यंतरकर्ममलं अशक्यं शोधयितु मिति गाथार्थः सपरिग्रहस्य कस्मान्न कर्मविमोक्षो ? जीवाजीवद्रव्ये वाह्यपरिग्रहशब्दनोच्येते । तौ च सर्वदा सर्वत्र सन्निहितावितिं वन्धकः एवायमात्मा स्यादिति एवं च मुक्त्यभाव इति चोदितेन तयोः सम्बन्धहेतुरपि तु लोभादयः परिणामाः लोभादिपरिणामहेतुकं वाह्यद्रव्यग्रहणं ननु च मिथ्यात्वादयोऽअंतरंगसंगा एव जीवस्य कर्मबन्धने हेतवस्तत्किमर्थं वहिरंगसंगपरित्यागो ऽयमुपदिश्यत इति पर्यनुयुंजानं प्रत्याह ।

भावार्थ—वाह्य मल जव तक दूर नहीं किया जायगा तवतक लोभादि अंतरंग मल दूर नहीं होगा और लोभादि मल दूर हुये विना ज्ञान दर्शन और सम्यक्त्व चारित्र तथा वीर्यादि आत्मगुणों की प्राप्ति नहीं होगी इस वात को दृष्टांत द्वारा स्पष्टिकरण करते हैं। जिसप्रकार ऊपर का छिलका निकले विना चावल का अंतरंग शुद्ध नहीं होता उसी प्रकार वाह्य परिग्रह रूप मल जिस आत्माके लगा हुआ है उस आत्माका कर्म नष्ट होना शक्य नहीं है। ऐसा इस गाथा का अभिप्राय

है। यहांपर शंकाकार शंका करता है कि परिग्रहसहित जीव को मोक्षकी प्राप्ति क्यों नहीं होती?

जीवद्रव्य व अजीव द्रव्य यह बाह्य परिग्रह है और यह दो द्रव्य हमेशाही रहते हैं इसलिये यह आत्मा सर्वकाल कर्म बन्ध से बद्ध ही रहेगा-तो सर्वकाल बद्ध रहनेसे उसकी मुक्तिका अभाव ही मानना पडेगा।

इस शंका का समाधान इस प्रकार कीया है। जीव और अजीव द्रव्यका सम्बन्ध रहना परिग्रह नही कहलाता है परन्तु जब जीव लोभादिक परिणामोंसे युक्त होता है तब बाह्य परिग्रह का ग्रहण करता है अर्थात् बाह्य परिग्रहका त्याग नहीं करता इसलिये जो मनुष्य बाह्य परिग्रह को ग्रहण करता है अथवा बाह्यपरिग्रह का त्याग नहीं करता है उसके मनमें लोभादिक कषाय अवश्य जागृत रहते हैं और उसके नवीन कर्मों का बन्ध रहता है इसलिये बाह्यपरिग्रह मुक्ति प्राप्त करने में बाधक कारण होता है अतः इसके हटाये बिना अंतरंगशुद्धि नहीं होती और अन्तरंग विशुद्धि के बिना मोक्ष की प्राप्ति नहीं होती यह जैनागमका सिद्धांत है। इसके विषय में इस मूलाराधनामें बडे बिस्तारसे कथन कीया है। यहांपर सिर्फ संक्षेप मात्र द्रव्यलिंग की मुख्यता और इस द्रव्यलिंगकेबिना भावलिंग नहीं होता इस बातको दिखलाने के लिये थोडा कथन किया है। आचार्य कहते है कि परिग्रहका त्याग करनेसे ही

पूर्व में दिखाये गये सर्व दोषोंका परिहार होता है और उन दोषोंके प्रतिपत्ती सर्व गुण प्रगट होते हैं। तथा जैसे कुमार्ग में प्रवृत्त हुये हाथी को अंकुश निवारण कर योग्य मार्ग में लाता है अथवा जिस प्रकार नगर की रक्षा करने के लिये नगरके चोतरफ खांई खोदी जाती है उसीप्रकार राग द्वेषके दूर करने के लिये परिग्रहका त्याग करना परमावश्यक है।

परिग्रहके त्याग किये बिना इन्द्रियज्ञानकी निवृत्ति नहीं होती।

अर्थात् परिग्रहत्यागी के इन्द्रियां अयोग्य कार्यमें प्रवृत्त नहीं होती ऐसा दिखाते हैं।

एदेसिं दोसाणं मुंचइ गंथं जहणेण सव्वेसिं
तव्विवरीया य गुणा लभदि य गंथस्स जहणेण ॥

टीका—एदेसिं दोपाणं मुंचइ पूर्वोक्तान्परिग्रहणाग-तांदोपांस्त्यजेदिति दोपप्रतिपक्षभूतान् गुणानपि लभते ग्रंथ-त्यागिनो दोपविच्छेदे गुणप्रतिलंभं चोपदिशति।

गंथच्चाओ इन्दियणिवारणे अंकुसो व हत्थिस्स।
णयरस्स खाइया वि य इन्दियगुत्ती असंगत्तं ॥

टीका—गंथच्चाओ ग्रंथत्यागः इन्द्रियनिवारणे इत्यय-मिन्द्रियशब्द उपयोगेन्द्रियविपयः सप्तमी च निमित्तलक्षणा तेनायमर्थः इन्द्रियज्ञानस्य रागद्वेपमूलस्य निवारणे निमित्तभूतो

अंकुश इव हस्तिनो निवारणे उत्पथयानात् नगरस्य खादिगाविय नगरस्य खातिका इव असंगत्तं निष्परिग्रहता इन्द्रियगुत्ती इन्द्रियगुप्तरिंद्रियरक्षा रागोत्पत्तिनिमित्तेंद्रियज्ञानरक्षा।

फिर भी कहते हैं कि परिग्रहोंको त्याग करनेसे ही परिणाम निर्मल होते हैं। और परिणामों की निर्मलता दिन परि दिन बढ़ती जाती है। परिग्रहत्यागी ही अपने कषाय परिणाम क्षीण कर सकता है। परिग्रहवानके कभी भी कषाय क्षीण नहीं होती। जैसे इन्धन के संयोग से अग्नि कभी भी उपशांत नहीं होती। तैसे परिग्रहवान की भी कषाय कभी भी शांत नहीं होती।

गंथच्चाएण पुणो भावविसुद्धि विदीविदा होई।
ण हु संगघडिदबुद्धि संगे जहिदु कुणदि बुद्धी॥
णिस्संगो चेव सदा कसायसल्लेहणं कुणदि भिक्खू।
संगा हु उदीरंति कसाये अग्गीव कट्ठाणी॥११७५॥

टीका—"संगच्चाएण पुणो संगत्यागेन पुनः भावविशुद्धिः विदीविदा होदि परिणामस्य विशुद्धिर्दीपिता दर्शिता भवति णउ संगघडिदबुद्धि नैव परिग्रहघटितबुद्धिः संगे जहिदु कुणदि-बुद्धि परिग्रहांस्त्यक्तुं करोति बुद्धिं" ॥११७४॥

णिसंगो चेव निस्परिग्रहश्चैव सदा कषायपरिणामांस्तनुकरोति न परिग्रहः कथं इति तदाचष्टे संगा हु उदीरंति परिग्रहः उदीर-

यति कषाये कषायान् अग्गीव अग्निरिव कट्ठाणि काष्ठानि

आचार्य कहते हैं कि परिग्रहत्यागसे मनुष्य विश्वासका पात्र बन जाता है और महान सुखी हो जाता है तथा इनके सुखके सामने चक्रवर्ती का सुख भी तुच्छ है।

सव्वत्थ होइ लहुगो रूवं विस्सासियं हवदि तस्स ।
गुरुगो हि संगसत्तो संकिज्जइ चावि सव्वत्थ ॥११७६॥
सव्वत्थ अप्पवसिओ णिस्संगो णिब्भओ य सव्वत्थ ।
होदिय णिप्परियम्मो णिप्पडिकम्मो य सव्वत्थ ॥११७७॥
रागविवागसतराणादिगिद्धि अवतित्ति चक्कवट्टिस्स ।
णिस्संग णिव्वुइसुहस्स कहं अयगइ अणंतभागंपि ॥

टीका—"लघुः सर्वत्र निःसंगो रूपं विश्वासकारणं
गुरुः सर्वत्र सग्रंथः शंकनीयश्च जायते ॥"

प्रतिबन्धः प्रतिकारः प्रतिकर्म भयादयः।
निर्ग्रंथस्य न जायंते दोषाः संसारहेतवः॥

गृद्धा कांक्षा कारणं सेवते यश्चक्रीसौख्यं रागभावं वितृप्तिः। सौख्यस्येदम् नास्त्यसंगस्य तुल्यं स्वस्थोऽस्वस्थैःसौख्यमाप्नोति कुत्र॥

दुःखानि नश्यंति शर्माणि पुष्यन्ति
कर्माणि त्रुट्यन्ति न चित्राणि संगे—
गृहीते यतः संयतस्यापि हेयस्ततः सर्वदासौ पटिष्टेन पुंसा।

भावार्थ—बाह्य परिग्रह का त्याग ही महाव्रत है अर्थात् बाह्य समस्त परिग्रहों का त्याग तीर्थंकरादि महापुरुषों ने किया था इसलिये इसका नाम महाव्रत है। अथवा महापापोंका त्याग होने से भी इनकी महाव्रत संज्ञा है तथा इसका आचरण करने से महान् सुख मिलता है इसलिये भी इसको महाव्रत कह सकते हैं अतः इस महाव्रत को धारण करना मिथ्यात्व है ऐसा मानने वाला व्यक्ति किस प्रकार सम्यग्दृष्टि हो सकता है? अर्थात् कभी नहीं हो सकता।

साधेंति य महत्थं आयरिदाइं च जं महल्लेहिं।
जं च महाल्लाइं सयं महव्वदाइ हवे ताइं ॥११८४॥

टीका—साधेंति जं महत्थं साधयंति यस्मान्महा प्रयोजनं असंयमनिमित्तप्रत्युत्पन्नकर्मकदंबकनिवारणं महत्प्रयोजनं सम्पादयंतीति महाव्रतानि आयरियाइं च जं महल्लेहिं यस्मादाचरितानि महद्भिः तस्मान्महाव्रतानि इति निरुक्तिः जं च यस्मान्महाल्लाणि महंति ततो महाव्रतानि स्थूलसूक्ष्मभेदसकलाहिंसादिरूपं महान्ति। एवमहिंसादीनि व्रतानि पंचापि प्रपंच्य सां प्रतं एकभुक्तं महाव्रतादि, अठाईस मूल गुण धारण करने का उपदेश आचार्यों ने इसलिये दिया है कि-इनके धारण किये विना अंतरंग चारित्र नहीं होता। इस कारण इसका नाम मूल गुण है।

किन्तु कांजी भाई इन मूल गुणों को अंतरंग चारित्रका

दोष बताते हैं। वे यह नहीं मानते कि बिना बाह्य चारित्र के अंतरंग चारित्र नहीं होता परन्तु दिगम्बर जैनाचार्य बार बार यह कहते है कि बिना बहिरंग चारित्र के अंतरंग चारित्र नही होता।

इस बात को आचार्यों ने दृष्टांत द्वारा स्पष्ट कर दिया है और युक्ति से भी यह मूल गुण सुसिद्ध है। सभी धर्मों वाले अहिंसा को "अहिंसा परमो धर्मः" माना है इसलिये अहिंसा को महाव्रत और मूलगुण ही नहीं मूलधर्म भी कह सकते है। क्योंकि "आत्मवत् सर्वभूतेषु" अपनी आत्मा के समान ही सर्व की आत्मा है और अपनी आत्मा के समान सर्व जीवों की रक्षा करना परम धर्म है। जिसने परजीवों की रक्षा की उसने अपनी आत्मा की रक्षा की अर्थात् अपनी आत्माकी रक्षा करने वालेके परजीवों की रक्षा स्वतः सिद्ध है अतः जिस व्रत से अपनी आत्माकी रक्षा हो उसको महाव्रत नहीं कहें तो और किसको महाव्रत कहें ?

झूठ बोलना महापाप सर्व ही धर्म वाले मानते है इसलिये झूठ बोलने का सर्वथा त्याग कर देना और हित मित वचन बोलना इसको सत्यमहाव्रत क्यों नहीं कह सकते हैं ? अवश्य कह सकते हैं और सत्य बोलना मूलगुण भी है। सत्य बोलने वाला सर्वमान्य होता है और वह सर्वगुण सम्पन्न हो जाता है। मूल नाम जड़ का है जिस वृक्ष की जड़ महान् है उस वृक्ष के सर्व अंग हरे भरे रहते है। उसी प्रकार जिस मुनि के यह

महाव्रत रूपी मूलगुण है उस मुनि के सर्व उत्तरगुण वृद्धिं गत होते रहते है।

चोरी करना भी आत्मा का धर्म नहीं है इसलिये चोरी करने का त्याग करना आत्मधर्म कहलाता है और जो आत्मधर्म है वही महाव्रत और मूलगुण है। चोर से सब डरते हैं, चोर का कोई विश्वास नहीं करता, इस लोक में बध बन्धनादि का घोर दुख भोगता है और परलोक में भी नर्क तिर्यगादि योनियों में भ्रमण करता महान् दुखी होता है। इसलिये चोरी करना महापाप है उस महापाप का त्याग करना इसीका नाम महाव्रत और मूलगुण है। साहुकार का सर्वत्र आदर होता है।

शीलनाम आत्मस्वभावका है अतः कुशील का त्याग कर आत्मस्वभाव में रहना ही महाव्रत और मूलगुण कहलाता है।

"मूर्छा परिग्रहः" पर पदार्थों में ममत्व भावका होना परिग्रह है। और इस परिग्रह का अर्थात् पर पदार्थों में ममत्व बुद्धि का त्याग करना अपने आत्मस्वभाव में रहना परिग्रह त्याग महाव्रत कहलाता है। यह परिग्रह सर्व पापों का राजा है इसके संरक्षण में इसके उपार्जन में इसकी वृद्धि करने में हिंसा झूठ, चोरी और कुशील सर्व प्रकार के महापाप करने पड़ते है इसलिये आचार्यों ने इसको शेष में रक्खा है इसके त्याग से आत्म परिणामों की विशुद्धि होती है। इसके निमित्त से हिंसा होती थी, झूठ बोलना पड़ता था, चोरी भी करनी पड़ती थी और कुशील भी सेवन होता था सो सब परिग्रह त्याग से छूट

जाता है और अहिंसादि महाव्रतों की पूर्णतया रक्षा हो जाती है अतः इससे बढ़कर महाव्रत और मूलगुण क्या होगा ? किन्तु कांजीस्वामीने इन पंच महाव्रतों के विकल्पों को भी पुन्याश्रव मान कर निश्चय चारित्र में दोष मान लिया है। देखो आत्मधर्म अं० १२ वर्ष ६

"पंच महाव्रत के शुभ विकल्प भी पुन्याश्रव हैं वे विकल्प करनेकी मुनिकी भावना नहीं थी तथापि वह वृत्ति उठती है तो उसको निश्चय प्रत्याख्यान में दोषरूप जान कर छोड़ देते हैं। उसका प्रतिक्रमण करके पुनः निर्विकल्परूप से स्वरूप में स्थिर होते हैं" कांजीके कहनेकी शैली अजब ढंग की है इसलिये साधारण व्यक्ति उनके कहने के अभिप्रांय को समझ नहीं सकते हैं। कांजी ने पंच महाव्रत का विकल्प करना पुन्याश्रव है इसलिये निश्चय प्रत्याख्यान में दोष समझकर उसका प्रतिक्रमण कर पुनः निर्विकल्परूप स्वरूप में स्थिर होना बताया है। किन्तु कांजी को इस बात का कथन करते समय उनको यह विवेक न रहा कि जिस प्रकार पंच महाव्रत का शुभ रूप विकल्प है उसी प्रकार इस विकल्प को दोष समझना भी तो विकल्पता है और इसविकल्प से भी पुन्य या पाप कुछ न कुछ तो बन्ध होगा ही तथा यह विकल्प भी तो निश्चय प्रत्याख्यान में दोष रूप है ही और इन दोषों का प्रतिक्रम करना यह भी विकल्प ही है अतः यह भी तो निश्चयप्रत्याख्यान में दोषरूप है क्योंकि प्रतिक्रमण भी पुन्याश्रवका कारण है इसलिये इनको निश्चयप्रत्या-

ख्यानमें दोषरूप समझना ही दोषरूप है क्योंकि निश्चयप्रत्याख्यान इसके किये बिना होता नहीं, इन विकल्पों को दोषरूप समझकर छोड़ देने की बात कही है सो विवेकशून्यता की बात है क्योंकि निर्विकल्प अवस्था बारहवें गुण स्थान के अंत में होती है, इसके नीचे के गुणस्थानों में निर्विकल्प अवस्था नहीं होती। इसके नीचे के गुणस्थान में धर्मध्यान और शुक्लध्यान का पहिला पाया सविकल्परूप है और पुन्याश्रवका कारण भी है। "आज्ञाविचय अर्थात् भगवान की आज्ञा का पालन करना आज्ञा किस रूप है उसको विचार करना इत्यादि" अपायविचय अर्थात् आपके और परके कल्यान के मार्ग का चिंतवन करना दुःख दूर होने का उपाय करना, "विपाकविचय" अर्थात् कर्मों के विपाक का विचार करना कर्मों के निमित्त से आत्मा किस प्रकार दुःखी हो रहा है इत्यादि विचार करना "संस्थानविचय" तीन लोक के स्वरूप का चिंतवन करना नरकादिगतियों के स्वरूप का विचार करना रूपस्थ, पिंडस्थ, रूपातीत, आदि ध्यानों का स्वरूप समझ कर उस रूप ध्यान में अवस्थित होना, ये धर्म ध्यान के चारू पाये सविकल्परूप हैं तो भी आचार्यों ने इनको धर्म ध्यान बताया है किन्तु धर्म ध्यान का दोष इनको नहीं बताया है। इसके अतिरिक्त शुक्ल ध्यान का पहिला पाया भी सविकल्प है। "एकाश्रये सवितर्कविचारे पूर्वे" "अवीचारं द्वितीयं" जो बारह वें गुण स्थान के अंत तक रहता है पंच महाव्रतका शुभ रूप विकल्प छोड़नेसे निर्विकल्प

अवस्था बारहवें गुण स्थान के पहिले किस प्रकार होती है सो कांजी जानें।

आचार्य तो पुकार पुकार कर कहते है कि बाह्य शुद्धि के बिना अथवा बाह्य व्रतोंके बिना अंतरंग शुद्धि और अंतरंग चारित्र नहीं होता अतः बाह्यव्रत अंतरंग व्रतका कारण होने से बाह्यव्रत अंतरंग निश्चयव्रतका दूषण नहीं है किन्तु भूषण है। इस बातको आचार्य प्रगट करके कहते हैं—

बाहिरकरणविसुद्धी अब्भंतर करणसोधणत्थाये ।
णहुकुंडयस्स सोधी सक्का सतुसस्स काहुंजे ॥१३४९॥

मता बहिःक्रियाशुद्धिरन्तरमलविशुद्धये ।
बहिर्मलक्षयेनैव तंदुलोऽन्तर्विशोध्यते ॥१३९६॥

"बाह्यतपः करणीयं तपोपष्टं तत्फलं संपादयत्येव ।
किमुच्यते बाह्य-क्रिया किं करोतीत्याशंकायां सूरिराचष्टे"

टीका—बाहिरकारणविशुद्धी बाह्यक्रिया विशुद्धी अभ्यंन्त-रकारणसोधणत्थाए अभ्यन्तरक्रियाणां विनयादीनां शुद्धये श्रूयते बाह्यान्यनशनादि तपांसि ततोन्वर्थतया बाह्यान्युपरि-ष्टानि यदि यदर्थं तत्प्रधानं इति प्रधानताभ्यन्तरतपसः तथापि शुभशुद्धपरिणामात्मकं तेन विना न निर्जरायै बाह्यमलं उक्तं च

बाह्यंतपः परमदुश्चरमाचरंस्त्व ।
माध्यात्मिकस्य तपसः परिबृंहणार्थं ॥

इति ण तु कुंडयस्स सोधी सक्का काडुं जेनैवान्तरमलस्य शुद्धिः सक्कतुं कस्य ? सतुसस्स धान्यस्य।

न चैवं पाल्यं तपो नानुष्टेयमित्यवसेयं यतः।

भावार्थ—बाह्य क्रियाओं की अनशनादि तपों की निर्मलता-अंतरंग विनयादि तपोंको निर्मल करने के लिये होती है। अर्थात् अंतरंग तप थोड़े कालमें बहुत कर्मों की निर्जराकरनेकी और बाह्य तप इन तपोंकी सामर्थ्य बढाता है अतः बाह्यतपों को बाह्य यह नाम सार्थक है। अभ्यंतर तपके लिये बाह्य तप हैं इस कारण बाह्य तप प्रधान है और अंतरंग तप शुभ और शुद्ध परिणामोंसे युक्त रहता है इस कारण कर्मों की निर्जरा करने में सामर्थ होता है और इस अतरंग तपके बिना केवल बाह्यतप कर्मों की निर्जरा करने में असमर्थ है इस कारण अंतरंग तप प्रधान है। श्री समंतभद्राचार्य कहते हैं कि हे प्रभो! आप अतिशय कठिन ऐसा बाह्य तप अंतरंग तपकी वृद्धि के लिये करते थे इसलिये अभ्यंतर तप प्रधान है और बाह्य तप से अंतरंग तप विशुद्ध होता है इस कारण बाह्य तप अभ्यंतर तपकी वृद्धि में और उत्पत्ति में मुख्य हेतु है अतः बाह्य तप निष्फल है ऐसा मानना भारी अज्ञानता है। क्योंकि जो धान्य सतुष है ऊपर के छिलके से युक्त है उसका अन्तरंग मल नष्ट नहीं होता जब छिलका नष्ट होता है तब उस धान्य का अंतर मल भी नष्ट हो जाता है। अतः अभ्यंतर तपकी विशुद्धता के लिये बाह्य

तप प्रधान कारण है। इस सम्बन्ध में आचार्य और भी स्पष्ट करते हैं।

लिंगं च होदि अभ्यंतरस्स सोधिए वाहिदा सोधी।
भिउडीकरणं लिंगं जह अंतो जादकोधस्स ॥१३५०॥

टीका—लिंगं च होदि चिह्नं च भवति अभ्यंतरस्स परिणाम-सोधीए अभ्यंतरस्य परिणामस्य शुद्धेः वाहिरा सोधी वाह्या शुद्धिरनशनादि तपोविषया भिउडीकरणं लिंग भृकुटीकरणं लिंगं अंतोजादकोधस्स अंतरंगजातस्य कोपस्य लिंगं लिंगभावः वाह्योनामभ्यंतराणां चैवं भवति यदि परस्पराविनाभाविता कार्येण वाह्येन कारणस्याभ्यंतरस्येति भावार्थः।

अर्थात् – अभ्यंतर परिणामशुद्धि का अनशनादि वाह्य तप लिंग हैं जैसे किसी मनुष्य के मनमें क्रोध जब उत्पन्न हो जाता हैं तब उसकी भौंह ऊपरकी तरफ चढ़ती हैं और जादह: वक्र होती है चढ़ी हुई भौंए देखने से लोग यह समझ लेते हैं कि इस मनुष्य के मनमें क्रोध का विकार उत्पन्न हुआ हैं ऐसा अनुमान लगा लेते हैं इस वाह्य अभ्यंतर परिणामों में लिंगलिंगी भाव हैं अर्थात् वाह्य लिंग हैं अंतरंग लिंगी हैं वाह्य और अंतरंगमें जब आप-समें धूम और अग्नि के समान अविनाभाव रहता हैं तब लिंग लिंगी भाव माना जाता है अर्थात् वाह्य कार्य रूप और अभ्यंतर कारण रूप होनेसे अविना भाव इनमेंहोता हैं ऐसा समझना चहिये।

बाह्य परिग्रहादिक के त्याग कीये बिना अंतरंग चारित्र नहीं होता इस बातको स्व० प० आशाधरजीने भी अनगार धर्मामृतमें कहा है।

निर्मोकेण फणीव नार्हति गुणं दोषैरपित्वधत्ते।
तद्ग्रंथानवहिश्चतुर्दश वहिश्चोज्झेद्दशश्रेयसे ॥

अध्याय ४ पृष्ट ४०६

जिस प्रकार बाह्य तुष मोटे छिलकेसे रुद्ध वेष्टित तंदुल धान अंतरंगसे भी शुद्ध नहीं कीया जा सकता है अर्थात् पतली भूसी उतारकर शुद्ध चावल नहीं बनाया जाता उसी प्रकार बाह्य अपनेमें ममकार के उत्पन्न करानेवाले चेतन और अचेतन ग्रंथ रूप परिग्रह से युक्त आच्छादित अथवा आसक्तिको प्राप्त जीव भी अंतरंग में शुद्ध नहीं हो सकता। सारांश यह है कि राग द्वेष के निमित्तसे बन्ध होता है और वे राग द्वेष चेतन अचेतन परिग्रहके निमित्त से हमेंशह हुआ करते है अतः परिग्रही जीवके कर्मोका संचय भी प्रतिक्षण होता रहता है।

इसी वातको आचार्य दिखलाते हैं।

कादाचित्को बधः क्रोधादेः कर्मणः सदासंगात्।
नातः कापि कदाचित् परिग्रहवतां सिद्धिः ॥

अर्थात् क्रोधादि के निमित्तसे कदाचित बन्ध हुआ करता है किंतु परिग्रह के निमित्तसे सदा बंध हुआ करता है यही

कारण है कि जो परिग्रह रूपी ग्रहसे आविष्ट है उनकी कहीं भी और कहीं परभी सिद्धि (मुक्ति) नहीं होती। यह मोह कर्म इतना प्रबल है कि असमयमें काल लब्धिके बिना तत्त्वज्ञानियोंके लिये भी जिसका जीतना अत्यंत कष्टसाध्य है इस बात पर आचार्य विचार करते हैं कि—

महतामप्यहो मोहग्रहः कोप्यनवग्रहः।
ग्राहयत्यस्वमस्वांश्चयोहंममधिया हठात् ॥१३६॥

अ० ध० अ० ४

अर्थात् चारित्र मोहनी कर्म ग्रहके समान है जिसप्रकार ग्रहके निमित्तसे जीव विविध प्रकारकी कुचेष्टायें करता रहता है उसी प्रकार इसके निमित्तसे भी जीव अनेक प्रकारके विकारोंको प्राप्त होकर दुर्व्यवहार कीया करता है। यह इतना दुर्निवार है कि जिसका निरूपण नहीं कीया जा सकता है। आश्चर्य है कि तीर्थंकरादि महापुरुषों को भी पर और परकीय पदार्थोंमें क्रमसे अहंबुद्धि और ममबुद्धि के द्वारा जबर्दस्ती विपरीतग्रह करादेता है तो तुच्छ व्यक्ती निजआत्मस्वरूपसे बहिर्मुख है ऐसे शरीरादिक परिग्रहोंमें ये मेरे हैं ऐसा मानकर विपरीत आचरण करें तो इसमें कोनसा आश्चर्य है? इसलिये बाह्य परिग्रहोंको कर्म-बंधका कारण मानकर विवेकी पुरुषों को इनका त्याग करना चाहिये। जो व्यक्ति बाह्य परिग्रहों से आत्माकी कुछ भी हानि नहीं मानता है वही व्यक्ति ऐसा कह सकता है कि मोक्ष प्राप्ति के लिये मुनि होना मिथ्यात्व है।

क्योंकि आत्मासे बाह्य परीग्रहों का कोई संबंध नहीं है। आत्मा स्वतन्त्र द्रव्य है और शरीरादि परिग्रह परवस्तु है अत एव परद्रव्य आत्मद्रव्यमे सर्वथा भिन्न होनेसे आत्मा उसको ग्रहण नहीं करता है तो उसको छोडने का विकल्प करना आत्मा की अज्ञानता है ऐसा मानने वाला व्यक्ति जैनागमसे सर्वथा वहिरमुख है।

आचार्य कहते है कि व्रतोंके धारण करनेसे मन वचन काय की अशुभ प्रवृत्ति का त्याग करनेसे तथा कषायों का निग्रह करनेसे इन्द्रियोंपर विजय करनेसे और समितियों के पालन करने से संयम होता है और इस संयम को शालिआदि धान्योंके समान समझना चाहिये क्यों कि जिस प्रकार धान्य खेतोंमें उत्पन्न होता है और जिस प्रकार खेत अपनी सस्य सम्पत्ति के द्वारा लोगोंको प्रीतिकर होता है उसी प्रकार यह संयम भी बुध्यतिशयादिक ऋद्धि रूपी फलोंके द्वारा आराधकोंको रुचि उत्पन्न कीया करता है अतः साधुओंको जो कि चारित्रका आराधन करने के लिये उद्यत है इस धान्यसमूह के समान संयम का भक्षण करने के लिये उत्सुक हुये मनरूपीअदम्य वलीवर्द सांडका दमनही कर देना चाहिये और इसका दमन तवतक नहीं होता जवतक बाह्य परिग्रहों का त्याग नहीं कीया जायगा अतः मनरूपी सांड का दमन करनेवालों को प्रथम ही बाह्य परिग्रहों का त्याग अवश्य कर देना चाहिये। नातर यह मनरूपी सांड संयम रूपी धान्यसमूह की रक्षाकी कारणभूत शीलरूपी वाडको

लांघकर यथेष्ट अभिलषित विषयों को चरता हुआ उस से संयमरूपी धान्य को केवल उससे प्राप्त होने वाले मुख्य और आनुसंगिक सस्यादि फलों को (सुखों को) नष्ट ही न करेगा किंतु उसको खूंदखांद कर संयमरूपी धान्यको जडमूलसे नष्ट कर देगा, ऐसा आचार्यो का कहना है।

"व्रतदण्डकषायाक्षसमितीनां यथाक्रमम् ।
संयमो धारणं त्यागो निग्रहो विजयोऽवनम् ॥

अर्थात्—मोक्षाभिलाषीयोंको वाह्य परिग्रहादिकों का त्यागकर संयम अवश्य धारण करना चाहिये। अतः जो संयम धारण करने को मिथ्यात्व बताता है वह मिथ्यादृष्टि अवश्य है। ग्रंथकार कहते हैं कि जिनलिंग ही मोक्ष प्राप्तिमें प्रधान कारण है जो मुमुक्षु परम गुरुके उपदेशानुसार उनको नमस्कार करके उनसे इस जिनलिंग को धारण करता है अर्थात् व्रत और क्रियाओं का स्वरूप समझकर उनमें उपस्थित होता है उसको श्रमण (मुनि) कहते हैं। पांच महाव्रत, पांच समिति, पांच इन्द्रियोंका निरोध, छह आवश्यक कर्म, एक केश लोंच, एक अचेलत्व, एक पृथ्वी पर शयन, एक अदंत धावन, एक अस्नान, एक खडा भोजन, एक एक भुक्ति, इस प्रकार जिनेन्द्रदेवने साधुओं के अठाईस मूल गुण बताये हैं।

जह जादरूवजादं उप्पडिदकेशमंसुगंसुद्धं ।
रहिदं हिंसादीदो अप्पडिकम्मं हवदिलिंगं ॥

गुच्छारंभविजुत्तं जुत्तं उवजोग जोगसुद्धीहिं।
लिंगं णवरावक्खं अपुणब्भवकारण जहराहं ॥
आदाय तं च लिंगं गुरुणापरमेण तं णमंसिता ।
सोच्चासवदं किरियं उवट्ठिदो होदि सो समणो ॥
वदसमिदिंदियरोधो लोचो आवासयमचेलमराहाणं ।
खिदिसयणमदंतवणं ठिदिभोयणमेयभत्तं च ॥
एदे खलु मूल गुणा समणाणं जिणिंवरेहिं पराणत्ता।
तेसु पमत्तो समणो छेदोवट्ठावगो होदि ॥

अर्थात्---इन अठाईस मूल गुणों का धारण करना जिन-लिंग कहलाता है और जिनलिंग ही मोक्षका कारण है। किन्तु कांजी भाई इसके विपरीत इन अठाईस मूल गुणों को निश्चय चारित्र में दोष समझकर इसके धारण करने को मिथ्यात्व बताते हैं। अठाईस मूल गुणोंमें पंच महाव्रतों को मूल गुण ऊपरमें सिद्ध किया जा चुका है अब शेष गुणों को भी यह मूल गुण है यह आगमसे सिद्ध होने पर भी युक्ति से भी यह मूल गुण हैं ऐसा सिद्ध करेंगे। मूल गुणों को मूलगुण न समझकर इनको मूल गुणका दोष मानना जिनलिंग पर कुठाराघात करना है अर्थात् मोक्ष मार्गका लोप करना है।

पांच समिति भी मूल गुण हैं पांचों इन्द्रियों पर विजय करना भी मूल गुण है। षडावश्यक कर्म करना भी मूल गुण है,

और शेष सप्त शील भी मूल गुण हैं। आचार्यों ने इसको मूल गुण क्यों माना इस बातका स्पष्टी करण पीछे करेंगे इसके पहले प्रवचनसारमें बताये गये उत्सर्ग मार्ग और अपवादमार्ग का स्वरूप दिखाने से मूल गुणों की बात सरलता से समझ में आ जावेगी।

उत्सर्ग मार्ग और अपवाद मार्ग कहो या निश्चय मोक्ष मार्ग और व्यवहार मोक्ष मार्ग कहो अथवा निवृत्ति मार्ग और प्रवृत्ति मोक्ष मार्ग कहो इनमें शब्द भेद है अर्थ भेद नहीं है।

उत्सर्ग मार्गमें और अपवादमार्गमें परस्पर में मित्रता है। दोनों सापेक्ष हैं तो दोनों मार्ग सुमार्ग है अर्थात् मोक्ष मार्ग है। यदि दोनों मार्ग परस्पर में निरपेक्ष हैं तो दोनों मार्ग ही कुमार्ग हैं अर्थात् संसार परिभ्रमण का कारण है, इसी प्रकार निश्चय धर्म और व्यवहार धर्म, अथवा निश्चय चारित्र और व्यवहार चारित्र एवं निवृतिमार्ग और प्रवृत्तिमार्ग जबतक परस्पर में ये सब सापेक्ष मित्रवत् हैं तबतक ये सब सुमार्ग हैं अर्थात् मोक्ष मार्ग हैं यदि ये सब परस्पर में शत्रु वत् निरपेक्ष हैं तो यह सब कुमार्ग हैं अर्थात् संसार मार्ग है इसलिये उत्सर्ग मार्ग को ठीक समझना और अपवाद मार्ग को उत्सर्ग मार्ग में दोष समझना अज्ञानता है इसीप्रकार व्यवहार धर्म और व्यवहार चारित्र को निश्चय धर्ममें और निश्चय चारित्रमें दोषरूप समझना अथवा हेय समझना सारी अज्ञानता है। इसबात को प्रवचनसार के चारित्राधिकार में अच्छीतरह समझाया है।

छेदो जेण ण विज्जदि गहण विसग्गो सुसेवमाणस्स ।
समणो तेणिह वट्टदु कालं खेत्तं वियाणित्ता ॥२२॥

टीका—आत्मद्रव्यस्य द्वितीयपुद्गलद्रव्याभावात्सर्वएवोपधिः प्रतिसिद्ध इत्युत्सर्गः अयन्तु विशिष्टकालक्षेत्रवशात् क्वचिद्-प्रतिसिद्ध इत्यपवादः यदाहि श्रमणः सर्वोपधिप्रतिषेधमास्थाय परममुपेक्षासंयमं प्रतिपत्तुकामोऽपि विशिष्टकालक्षेत्रवशादा च्छन्नशक्तिर्न प्रतिपत्तुम् क्षमते तदापकृष्य संयमं प्रतिपद्य-मानस्तद्बहिरंगसाधनमात्रमुपधिमातिष्ठते किंतु तथाऽऽस्थीय-मानो न खलूपधित्वाच्छेदः प्रत्युत छेदप्रतिषेधएवयःकिलाशु-द्धोपयोगाविनाभावी स छेदः अयन्तु श्रामण्यपर्याय सहकारि कारणशरीरवृत्तिहेतुभूता आहारनिर्हारादि ग्रहण विसर्जन विषयच्छेदप्रतिषेधार्थमुपादीयमानः सर्वथा शुद्धोपयोगाविना-भूतत्वाच्छेदप्रतिषेध एव स्यात् ।

अर्थात् आत्मद्रव्यके द्वारा पुद्गल द्रव्य का अभावतैं सर्व ही परिग्रह निषेधरूप है इसप्रकार तो उत्सर्ग मार्ग है तथा जो विशेष कालक्षेत्र के वश तैं कदाचित् नहीं निषेधरूप अपवाद मार्ग है। जो मुनी सर्व परिग्र हका त्यागरूप परमवीतराग संयम का इच्छुक विशेष कालक्षेत्रका वश तैं नहीं प्रगट भई है शक्ति जिनकी सो परम वीतराग संयम को धारण करनेमें असमर्थ है उस समय वीतराग संयम का इच्छुक वहमुनि अपने परिणामको संकोच करि सराग संयम साधनभूत परिग्रह

के अंगीकार करनेसे वह मुनि अपवाद मार्गमें तिष्टै हैं । तोभी निश्चयसे सराग संयमको साधनमात्र परिग्रह के ग्रहण करने पर भी मुनिपने को छेद नहीं होय है प्रत्युत छेद को निषेध है। क्यों कि निश्चय से तो अशुद्धोपयोग का अविनाभावी परिग्रह का ग्रहण भी छेद है। किंतु जो अपवाद रूप परिग्रह है सो तो मुनिपर्यायको सहकारी कारण जो शरीर की प्रवृत्ति का हेतुभूत आहार नीहार कमंडल, पिच्छिकादिकका ग्रहण त्याग स्वरूप परिग्रह का छेद के प्रनिषेध के अर्थी ग्रहण है सो सर्वथा शुद्धोपयोग के साथ अविनाभावीपणातें छेद का निषेध है क्यों कि आहार निहार कमंडल, पिच्छिका गुरु शिष्यसंघ आदि मुनिपणेका सहकारी कारणरूप परिग्रह का ग्रहण किये विना आयुपर्यंत मुनिपणा रहता नहीं तातें निजपरिग्रहतें मुनि-पणा नष्ट न होय ऐसा परिग्रहका अपवाद मार्गमें ग्रहण करने का आदेश है क्यों कि यह परिग्रह मुनिपणाका साधक है और मुनिपणा शुद्धोपयोगका साधक है इसलिये अपवादमार्ग उत्सर्ग मार्ग का सहकारी कारण होनेसे एकवक्त खडा रहकर भोजन करना इरियापथ सोधकर गमन करना तथा छियालीस दोष बत्तीस अंतराय टालकर शुद्ध भोजन करना, और कमण्डल पिच्छि, शास्त्र आदि उपकरणोंको सोधभालकर धारना या ग्रहण करना, एवं मलमूत्रका निर्जीव भूमीमें क्षेपण करना यह मुनियोंका मूलगुण हो जाता है। क्यों कि इनके किये विना मुनिपणा का निर्वाह किसी हालतमें नहीं हो सकता यह

मुनिपणे को स्थिर रखनेमें गुणरूप है, मित्रवत् है इसलिये इनको मूलगुण कहा गया है।

यदि यह मूलगुणो में दोषरूप होते तो क्या सभी आचार्यों के ज्ञानमें एकसा झलका जो सभीने इनको मूलगुण बताया ? क्या कांजी के समान किसीको दोषरूप नहीं भाया दूसरे आचार्यों को भी जाने दीजिये कुंदकुंद स्वामीने भी तो इनको मूलगुण माना है इसीलिये उन्होंने भी इनको धारण कीया था और प्रवचनसारादि ग्रंथोमें इनको मूलगुण बताया है इस बातको क्या कांजी नहीं जानते ? यदि जानते हैं तो इनको मूलगुणों का दोष बताकर मुनिपद का अपवाद क्यों करते हैं ? क्या यही दिगम्बर धर्म का अस्तित्व नष्ट करना नहीं हैं ? अतः दिगम्बर धर्म के मूलगुणों का निषेध करने वाला दिगम्बरी कैसा ?

कुन्दकुन्द स्वामी ने अपवाद और उत्सर्ग मार्ग का प्रवचन-सारमें निरूपण करते और भी स्पष्ट कर दिया है कि अपवाद मार्ग ही उत्सर्ग का हेतु है इसलिये अपवाद मार्ग निषेध करने योग्य नहीं है।

अप्पडिकुठं उवधिं अप्पत्थणिज्जं असंजदजणेहिं।
मुच्छादिजणणरहिदं गेण्हदु समणो यदिकिअप्पं ॥

टीका—यः किलोपधिः सः सर्वथावंधासाधकत्वादप्रति-क्रुष्टः संयमादन्यत्रानुचितत्वादसंयतजनाप्रार्थनीयो रागादिपरि

ग्रामण्यान्तरेण धार्यमाणत्त्वान्मूर्च्छादिजननरहितश्चभवति स खल्वप्रतिसिद्धः अतो यथोदितस्वरूप एवोपधिरुपादेयो न पुनरल्पो ऽपि यथोदितविपर्यस्तस्वरूपः ॥२३ ॥

अर्थात निश्चयकरि सर्वथा बन्धन का साधक नहीं होने तैं निपेध करने योग्य भी नहीं है तथा संयम तैं अन्यप्रसंगमें अनुचित होनेसे असंयमी मनुष्यनि के नहीं ग्रहण करने योग्य रागादि परिणामों के बिना धारण करनेसे ममता आरंभ हिंसा आदि भाव का अभाव होनेसे निश्चयसे वह परिग्रह निपेध करने योग्य नहीं है इसलिये पूर्वोक्त परिग्रह ही ग्रहण करने के योग्य है इसके विपरीत अल्प परिग्रह भी रागादि भावोंको उत्पन्न कराने वाला है अतः वह परिग्रह ग्रहण करने के योग्य नहीं है जो कांजी ने धारण कर रक्खा है। और भी आचार्य स्पष्ट करते है।

उवयरणं जिनमग्गे लिंगं जह जादरूवमिदि भणिदं।
गुरुवयणं पि य विणओ सुत्तज्भयणं च पण्णत्तं ॥२४॥

टीका—यो हि नामाप्रतिसिद्धोऽस्मिन्नुपधिरपवादः सः खलु निखिलोऽपि श्रामण्यपर्यायसहकारित्वेनोपकारकारकत्वादुपकरणभूत एव न पुनरन्यः तस्य तु विशेषाः सर्वाहार्यवर्जितसहजरूपापेक्षितयथाजातरूपत्वेन बहिरंगलिंगभूताः कायपुद्गलाः श्रूयमाणतत्कालबोधकगुरुगीर्यमाणात्मतत्त्वद्यो-

तकसिद्धोपदेशवचनपुद्गलास्तथाऽधीयमाननित्यबोधकानादिनिधनशुद्धात्मतत्त्वोद्योतनसमर्थश्रुतज्ञानसाधनीभूतशब्दात्मकसूत्रपुद्गलाश्च शुद्धात्मतत्त्वव्यंजकदर्शनादिपर्याय तत्परिणत पुरुषविनीतताभिप्रायवर्त्तकचित्तपुद्गलाश्च भवंति। इदमत्र तात्पर्यं कायवद्वचनमनसी अपि न वस्तुधर्मः।

भावार्थ—जीवका स्वरूप काय वचन मन भी नहीं है जो स्वभाव नहीं है सो सर्व परिग्रह है और परिग्रहका मुनीश्वरके निषेध है तथापि जो मुनिपणाका सहकारी परिग्रह है सो उपकारी होनेसे उपकरण नाम पावै है। वह मुनिपणेका सहकारी परिग्रह यह है--प्रथम तो यथाजात दिगम्बर देहरूप पुद्गल, दूसरा गुरु वचन रूप पुद्गल, तीसरा सूत्रका अध्ययन रूप पुद्गल, चौथा विनयरूपचित्तपुद्गल, तथा शौचका और संयम का उपकारी कमंडल तथा पिच्छि रूप पुद्गल इत्यादि परिग्रह मुनिपणाका सहकारी है तातैं ग्राह्य है। तथा नहीं निषेधरूप शरीरमात्र जो परिग्रह है ताके रक्षण को उपाय योग्य आहार, नीहार, विहार इनको विधान पंच समितिके उपदेशमें मूलाचार आदि सर्वग्रंथनि में निरूपण किया है तथा यह भी इसी प्रवचन सार में बताया है कि योग्य आहार विहार है वह अनाहार कहिये नहीं आहार करनेके समान है तथा अविहार कहिये नहीं विहार करनेके ही समान है। तातैं दोष रूप नहीं है गुण रूप है इसलिये इनका मूल-गुणों में पंच समितिरूप ग्रहण किया है।

अब उत्सर्ग मार्ग के और अपवाद मार्गके मैत्रीभाव है दिखाते हैं—

बालो वा वुड्ढो वा समभिहदो वा पुणो गिलाणो वा
चरियं चरउ सजोगा मूलच्छेदं जधा ण हवदि ॥३०॥

टीका—बालवृद्धश्रांतग्लानेनापि संयमस्य शुद्धात्मतत्त्व-साधनत्वेन मूलभूतस्य छेदो न यथा स्यात्तथा संयतस्य स्वस्य योग्यमतिकर्कशमेवाचरणमाचरणीयमित्युत्सर्गः । बालवृद्ध-श्रांतग्लानेन शरीरस्य शुद्धात्मतत्त्वसाधनभूतसंयमसाधनत्वेन मूलभूतस्य छेदो न यथास्यात्तथा बालवृद्धश्रांतग्लानस्य मृद्वेवाचरणमाचरणीयमित्यपवादः । बालवृद्धश्रांतग्लानेन संयमस्य शुद्धात्मतत्त्वसाधनत्वेन मूलभूतस्य छेदो न यथास्या-त्तथा संयतस्य स्वस्य योग्यमतिकर्कशमाचरणमाचरता शरीरस्य शुद्धात्मतत्त्वसाधनभूतसंयमसाधनत्वेन मूलभूतस्य छेदो न यथास्यात्तथा बालवृद्धश्रांतग्लानस्य स्वस्य योग्यं मृद्वप्याचरण-माचरणीयमित्यपवादसापेक्ष उत्सर्गः । बालवृद्धश्रांतग्लानेन शरीरस्य शुद्धात्मतत्त्वसाधनभूतसंयमसाधनत्वेन मूलभूतस्य छेदो न यथास्यात्तथा बालवृद्धश्रांतग्लानस्य स्वस्य योग्यं मृद्वाचरणमा चरता संयमस्य शुद्धात्मतत्त्वसाधनत्वेन मूलभूतस्य छेदो न यथा स्यात्तथा संयतस्य स्वस्य योग्यमतिकर्कशमप्याचरणमाचरणीय-मित्युत्सर्गसापेक्षोऽपवादः अतः सर्वथोत्सर्गापवादमैत्र्या सौस्थि-त्यमाचरणस्य विधेयं ।

अर्थात् उत्सर्ग और अपवाद यो दोऊं ही मार्ग शुद्धात्म-

तत्त्व का साधन है तथापि इतना भेद है कि साक्षात् कारण तो उत्सर्ग मार्ग है और उत्सर्ग मार्ग का निर्वाह करने का कारण अपवाद मार्ग है तातै दोऊ निके मैत्री भाव है तथा संयमी के काहू कालमें तो शक्तिकी अधिकता होने से अपवाद सापेक्ष उत्सर्ग होता है तथा काहू कालमें शक्तिकी हीनता होनेसे उत्सर्ग सापेक्ष अपवाद होता है जैसे बाल वृद्ध तपकरि खेद-खिन्न अथवा रोगकरि पीडित जो संयमी अपने योग्य अतिकर्कश-भी आचरण को आचरण करता संयम का छेद न होने दे सो उत्सर्ग मार्ग है। तथा बाल वृद्ध खेद खिन्न रोग युक्त जो संयमी ताके शुद्धात्मतत्त्वका साधनभूत जो शरीर ताको छेद न होय ऐसो कोमल आचरण को आचरण करता हुआ सयमी अपने संयम को भी छेद न होने दे सो अपवाद मार्ग है। तात्पर्य यह है कि शुद्धात्मतत्त्व साधन भूत संयम एवं संयम को साधन भूत शरीर ये दोऊ जैसे नहीं नष्ट होय तैसे उत्सर्ग और अपवाद में आचरण करो। जबतक पूर्ण रूपेण उत्सर्ग मार्गका अवलम्बन न होसके तबतक उत्सर्ग मार्ग प्राप्त करने का साधन भूत अपवाद मार्ग का अवलम्बन करना योग्य है क्योंकि बिना अपवाद मार्गके उत्सर्ग मार्गमें स्थिर होना अशक्य है इसलिये ये दोनू में मैत्री भाव रखकर संयम साधन करने से ही शुद्धात्म तत्त्व की प्राप्ति हो सकती है। अन्यथा नहीं। इस बातको आगेकी गाथा से प्रगट करते हैं।

अथोत्सर्गापवादविरोधदौस्थमाचरणस्योपदिशति।

आहारे व विहारे देसं कालं समं खमं उपधिं ।
जाणित्ता ते समणो वट्टदि जदि अप्पलेवी सो ॥३१

टीका—अत्र क्षमाग्लानत्वहेतुरुपवासः, बालवृद्धत्वाधिष्ठानं शरीरमुपधिः ततो बालवृद्ध-श्रान्तग्लाना एव त्वाकृष्यन्ते । अथ देशकालज्ञस्यापि बाल वृद्ध श्रान्त ग्लानत्वानुरोधेनाहारविहारयोः प्रवर्तमानस्य मृद्वाचरणप्रवृत्तत्वादल्पो लेपो भवत्येव तद्वरमुत्सर्गः ।

देशकालज्ञस्यापि बालवृद्धश्रांत ग्लानस्यानुरोधेनाहारविहारयोः प्रवर्तमानस्य वृद्धाचरणप्रवृत्तत्वादल्प एव लेपो भवति तद्वरमपवादः । देशकालज्ञस्यापि बालवृद्धश्रांतग्लानत्वानुरोधेनाहारविहारयोरल्पलेपभयेनाप्रवर्तमानस्यातिकर्कशाचरणीभूयाक्रमेण शरीरं पातयित्वा सुरलोकं प्राप्योद्वान्तसमस्तसंयमामृतभारस्य तपसोऽनवकाशतयाऽशक्यप्रतिकारो महान् लेपो भवति तन्न श्रेयानपवादनिरपेक्ष उत्सर्गः । देशकालज्ञस्यापि बालवृद्धश्रांतग्लानत्वानुरोधेनाहारविहारयोरल्पलेपत्वं विगणय्य यथेष्टं प्रवर्तमानस्य मृद्वाचरणीभूय संयमं विराध्यासंयतजनसमानीभूतस्य तदात्वे तपसोऽनवकाशतया शक्यप्रतिकारो महान् लेपो भवति तन्न श्रेयानुत्सर्गनिरपेक्षोऽपवादः अतः सर्वथोत्सर्गापवादविरोध दौस्थित्यमाचरणस्य प्रतिषेध्यं तदर्थमेव सर्वथानुगम्यश्च परस्परसापेक्षोत्सर्गापवादविजृम्भितवृत्तिः स्याद्वादः, "इत्येवं चरणं पुराणपुरुषैर्जुष्टं विशिष्टादरैरुत्सर्गापवादतश्च विचरद्बह्वीः पृथग्भूमिकाः ।

आकर्ण्य क्रमतो निवृत्तिमतुलां कृत्वा यतिः सर्वतस्तत्सामान्य-विशेषभासिनि निजद्रव्ये करोतु स्थितिम् ।

अर्थात्—जो परमविवेकी उत्सर्गी अथवा अपवादीमुनि इन देशकालादि पांच भेदों को जानकर जिसक्रियामें कर्म-बन्ध थोडा हो और संयम का भंग न हो ऐसी आचारक्रियामें प्रवर्ते तो दोष नहीं है क्योंकि संयम की रक्षा निमित्त जिस तरह शरीर का नाश न हो उसप्रकार कठोर अथवा कोमल क्रियामें प्रवर्तता है इसवास्ते देशकाल जाननेवाला उत्सर्ग-मार्गी मुनि बालवृद्ध खेदराग अवस्थाओंके कारण आहार विहारमें प्रवृत होता है कोमल क्रियाओंको आचरता है और अल्पकर्मबन्ध भी जिसमें होता है ऐसी अपवाद अवस्था को धारण करता हुआ उत्सर्गमुनि बहुत अच्छा है जो कि शरीर रक्षा करके संयमका भंग नही होने देता। और देशकाला-दिकका जाननेवाला अपवादमार्गी मुनि बालवृद्ध खेदरोग अवस्थाओंके वश आहार विहार में प्रवर्तता हुवा कोमल आचरणोंको आचरता है, प्रमादी हुवा कोमल आचरणकर संयम का नाश भी नहीं करता है अति शिथिल भी नहीं होता है शरीर की रक्षा करके संयम को पालता हुवा अल्प कर्म बन्ध भी होता है ऐसी उत्सर्ग अवस्था को लिये हुये अपवाद मार्गी मुनि बहुत अच्छा है जो कि संयम को पालता है और शरीर को भी बिगडने नहीं देता। तथा देशकालादिकका जाननेवाला उत्सर्गी मुनि बाल वृद्ध खेद रोग अवस्था होने

पर जो अल्पकर्म बन्धके भयसे जो कोमल आचार को नहीं आचरण करे आहार विहार क्रियामें नहीं प्रवर्तें और मनमें यह जाने कि मैं इस उत्कृष्ट उत्सर्ग मार्ग संयम को धारण करता हूं मुझको जघन्यदशारूप अपवाद संयम योग्य नहीं है जो हीन अवस्थाको धारण करूंगा तो बन्ध होगा ऐसा जानकर उत्कृष्ट आचार का आचरण करे तो वह मुनि अति कठोर तप कर शरीर का नाश कर देवलोकका पद प्राप्त करता है वहां संयमरूप अमृतका वमन करता है क्योंकि देवपद तपस्या का कारण नहीं हैं इसलिये वहांपर वही जीव महा कर्मबन्ध करता है इसकारण जो उत्सर्गमार्गी अपवाद मार्ग से मैत्रीभाव नहीं करता है वह उत्सर्गमार्गी अच्छा नहीं है। जो कि शरीर का नाशकर संयम का नाश करता है तथा जो देशकालादि जानने वाला अपवाद मुनि बालवृद्धखेदरोग अवस्थाओंके होनेपर आहार विहार में प्रवृत्ति करे और मनमें यह समझे कि सिद्धांतोमें कहा है कि जो अल्प बन्ध भी होवे तो भी रोग खेदादि दशाओं के होनेपर वह मुनि कोमल आचार में प्रवृत्ति करे तो दोष नही ऐसा जानकर जो अतिशिथिल हो के स्वेच्छाचारी हुवा आहार विहार में प्रवर्तें तो वह संयम का नाशकर असंयमी के समान होवे उस समय मुनि के तपका अभाव है एसी अवस्थामें महान कर्मबन्धकर लिप्त होय है इसलिये जो अपवादमार्गी उत्सर्ग अवस्थासे मैत्रीभाव लिये हुवे न होवे तो वह अपवादमार्गी अच्छा नही इसकारण

उत्सर्ग अपवादमें जो विरोध होवै तो मुनि के संयम की स्थिरता न हो इसलिये उत्सर्ग अपवाद में मैत्रीभाव होना योग्य है। भगवान का मत अनेकांत रूप है जिसतरह संयम की रक्षा होवै उसतरह प्रवर्ते। एसा नही है कि संयमका नाश हो अथवा मत होवो परन्तु अपनी एक अवस्थाको नहीं छोडना ऐसा जिनमार्ग नही है। जिनमार्ग तो एसा है कहीं अपवादही है कहीं अकेला उत्सर्ग ही है। कहीं उत्सर्गलिये अपवाद है तो कहीं अपवाद लिये उत्सर्ग है। जिस तरह संयम रहै उसीतरह अपवादमें विरोधरहित होवै। जो महापुरुष है उन्होंने उत्सर्ग-अपवादरूप नानातरह की भूमिका अंगीकार की है उसके बाद उत्कृष्ट दशाको प्राप्त होकर समस्त क्रियाकाण्ड से निवृत्त हूवे है।

पश्चात सामान्य विशेषरूप चैतन्यरूप जो निजतत्त्व उसमें स्थिर हो रहे हैं इसी तरह अन्य भव्य जीव भी स्वरूपमें गुप्त रहो।

इसमें उत्सर्ग मार्गसे मैत्रीभाव रखने वाला बाल,वृद्ध खेद, खिन्न रोग ग्रसित अपवाद मार्गी मुनि संयमकी रक्षा करता हुआ कोमल आचरण को आचरता संता संयम का साधक शरीर की भी रक्षा करता है एसा कहा है इसका आशय ऐसा भी हो सकता है जैसा कि भगवती आराधना-सार में कहा है।

"केचिदसमर्थी महर्षयः शीतकालादौ कंबलशब्दवाच्यं कौशेयादिकं ग्रहन्ति, न तत्प्रक्षालयंति न सीव्यंति न प्रयत्नादिकं कुर्वंति अपरकाले परहरन्ति केचिच्छरीरे उत्पन्नदोषाल्लज्जितत्वात्तथा कुर्वन्ति। व्याख्यानमाराधनाभगवतीप्रोक्ताभिप्रायेणापवाद्रूपं ज्ञातव्यं। उत्सर्गापवादयोरपवादो विधिर्वलवानिति उत्सर्गेण तावद्यथोक्तमाचेलक्यं प्रोक्तमस्ति। आर्यासमर्थदोषवच्छरीराद्यपेक्षयापवादव्याख्याने न दोषः। अमुमेवाधारं जैनाभासाः केचित्सचेलत्वं मुनीनामास्थापयन्ति तन्मिथ्या, साक्षात् मोक्षकारणं निर्ग्रंथलिङ्गमिति वचनात्, अपवादव्याख्यानमुपकरणकुशीलापेक्षया कर्तव्यम्।

यह अपवाद मार्ग शरीर की अपेक्षा है संयमकी रक्षार्थ ग्रहण कीया जाता है। अपवाद मार्ग के विना मुनि मुनिपणा स्थिर नहीं रख सकता इसलिये यह बलवान है। उत्सर्गमार्ग तो निर्विकल्प अवस्था है। जबतक इस अवस्था को प्राप्त न करली जाय तबतक अपवाद मार्ग ही श्रेयस्कर है किन्तु इस अपवाद मार्ग का छलकर कोई स्वच्छंदप्रवृत्ति करने लग जाय और सचेलत्वपने से भी मुक्ति की सिद्धि मानकर सवस्त्र रहे और अपनेको परमगुरुदेवाय नमः कहलावे तो वह जैनाभास है क्यों कि साक्षात् मोक्ष का कारण निर्ग्रंथ लिंग है और वही नमस्कार करने योग्य है।

निर्ग्रंथानां नमोस्तु स्यादार्यिकाणां च वंदना।
श्रावकस्योत्तमस्योच्चैरिच्छाकारोऽभिधीयते॥

यह जैनागमका सिद्धांत है इसके विपरिताचरण करना और अठाइस मूलगुणोंको चारित्र में दोष मानकर मुनिपदका निषेध करना अर्थात् "मोक्ष के अर्थी पंचमहाव्रत धारण करना शुभप्रवृत्ति है और वह शुभप्रवृत्ति शुभ बन्धका कारण है इस लिये मोक्ष मार्गमें बाधक है तोभी इसको मोक्ष मार्ग मानना मिथ्या है एसा बताकर श्रावकोंको यह उपदेश देना कि "पंच महाव्रत की शुभ प्रवृत्ति भी न करके मात्र चैतन्य के अनुभव में लीन हो ए भावना रखनी "आत्म धर्म अंक १२ वर्ष ६

सो क्या मुनिपद धारण किये विना कोई चैतन्यके अनुभव में लीन हो सकता है? कदापि नहीं, चैतन्य के अनुभव में लीन श्रेणी आरूढ मुनि के सिवाय अन्य गुणस्थानोंमें कोई भी नहीं हो सकता और श्रेणी पंच महाव्रत धारण कीये विना अठाइस मूलगुण धारण कीये विना कोई भी चढ नहीं सकता इसलिये "पंच महाव्रत की शुभ प्रवृत्ति भी न करके मात्र चैतन्य के अनुभव में लीन होने की वात जो कही गई है वह सर्वथा मिथ्या है। आत्म धर्म अंक १२ वर्ष ६ में जो यह बताया है " सम्यग्दृष्टी धर्मात्मा चैतन्य स्वरूप में स्थिर न रहे तो उस समय भी उसके सर्व भावोंसे उदासीनता तो होती है फिर चैतन्यमें स्थिर होने का अवसर आनेसे बाह्य अभिंतर सर्व परिग्रह छूट जाते हैं"

आप छूट जाता है ऐसी बात कहना जैनागम के सर्वथा प्रतिकूल है। कारण यह है कि प्रथम तो उसके प्रत्याख्यानावरणी कषाय का उदय है इसलिये सम्यक्त्वी पर पदार्थों से उदास रहने पर भी उनको छोड़ने में असमर्थ है। यदि छोडने में असमर्थ नहीं होता तो उनसे उदास रहने पर भी उनको क्यों नहीं छोडता दूसरी बात यह है कि सामायिक करते समय सामायिक में स्थित श्रावक का उपयोग परिग्रह में नहीं है इस कारण वह परिग्रह-वान उस समय नहीं है ऐसा मानकर चैतन्य के स्वरूप में स्थिर होने से परिग्रह अपने आप छूट जाता है ऐसा समझना भी भारी अज्ञानता है क्योंकि उपयोग चाहे उस समय परिग्रह की तरफ नहीं है तो भी परिग्रह की वासना अंतरंग में बैठी हुई है वह इच्छापूर्वक उसका त्याग किये विना नहीं निकलती। जिस प्रकार किसी की भावना शिखरजी की यात्रा करने की है और आज रातकी गाडी से वह जावेगा अतः दिन भर वह दूसरा काम करता है उस समय उसका उपयोग जिस कामको करता है उस तरफ है उस समय उसका शिखर जी की यात्रा करने की तरफ उपयोग नहीं है तो क्या उस समय उसके ऐसा मान लिया जाय कि अंतरंग से वह वासना निकल गई कि आज रात की गाडी से शिखर जी जाना है? कदापि नहीं निकली क्योंकि यदि उसके अंतरंग की वासना शिखरजी जानेकी मिट जाती अर्थात् नष्ट हो जाती तो नष्ट हुई भावना फिर जाग्रत होवे और वह रात की

गाडी से सिखर जी जावे यह बात नहीं बनती इसलिये मानना पड़ेगा कि उपयोग उस तरफ न होने पर भी अंतरंग वासना नष्ट न हुई इसलिये ही भावना फिर जागृत हो जाती है और वह रातकी गाडी से सिखर जी जानेको तैयार हो जाता है। उसी प्रकार सामायक में स्थित श्रावक का उपयोग सामायक करते समय अपने स्वरूप के चिंतवन में लगा हुआ है वाह्य परिग्रह की तरफ उसका उपयोग नहीं है तो भी उसकी अंतरंग वासना परिग्रह की तरफ से नष्ट न हुई। यदि नष्ट हो जाती तो सामायक के वाद फिर वह उस परिग्रह को ग्रहण करने रूप भावना उसकी जागृत नहीं होती और न वह फिर उस परिग्रह को ग्रहण ही करता। जिस प्रकार इच्छा पूर्वक त्यागे हुये पदार्थों को फिर कोई ग्रहण नहीं करता अतः इच्छा पूर्वक त्याग किये ही अंतरंग वासना नष्ट होती है इच्छापूर्वक विना त्याग किये अंतरंग वासना नष्ट नहीं होती इसलिये ही अपने आप छूटा हुवा पदार्थ फिर ग्रहण होजाता है। इसीकारण वह व्रती नहीं कहलाता है। देशावकाशिकव्रतकी सार्थकता बतलाते हुये समंतभद्राचार्य कहते है कि देशावकशिकव्रतीके इच्छापूर्वक सीमा के वाहिर भलीप्रकार स्थूल और सूक्ष्मरूप पांचों पापोंका त्याग होने पर भी वह देशावकाशिक व्रती सीमाके वाहिर महाव्रती के समान होने पर भी वह सीमा के वाहिर भी महाव्रती नहीं समझा जाता है क्योंकि उसके अंतरंग में प्रत्याख्यानावरण कषायका

यह बात जैनागमसे सर्वथा प्रतिकूल है प्रथम तो चैतन्य स्वरूपमें स्थिर केवलज्ञानी के सिवाय चैतन्य स्वरूप में स्थिर दूसरे मुनि भी नही हो सकते तब सम्यक दृष्टी श्रावक तो चैतन्य स्वरूपमें स्थिर हो ही कैसे सकते हैं। दूसरी बात इसमें यह भी बताई है कि जब सम्यक दृष्टि चैतन्य स्वरूपमें स्थिर होते हैं तब बाह्याभ्यंतर सर्व परिग्रह छूट जाते है इससे यह भी स्पष्ट हो जाता है कि परिग्रहवान सम्यकदृष्टि जब चैतन्य स्वरूपमें स्थिर होता है तब उसके बाह्याभ्यं-तर सर्व प्रकारका परिग्रह छूट जाता है अर्थात् उसको परिग्रह त्याग करने की जरूरत नही जब वह परिग्रहवान श्रावक ध्यानमें स्थिर होता है तब उस समय स्वतः उसका भाव परिग्रह की तरफ से हटकर चैतन्य स्वरूप में लग जाता है उस समय वह परिग्रहवान नहीं समझा जाता इसलिये उसके भावोंमें बिना छांडे भी वह सर्व परिग्रह छूट जाता है और जब वह श्रावक चैतन्य स्वरूप से फिर च्युत हो जाता है तब उस समय उसके वह सर्व परिग्रह उदास रूपसे ग्रहण हो जाता है ऐसा अभिप्राय प्रगट होता है। इससे एक तो सवस्त्र मुक्तिकी सिद्धि होती है क्योंकि इसमें "चैतन्यस्वरूप में स्थिर होनेसे सर्वपरिग्रह छूट जाने की बात कही गई है इससे यह साफ सिद्ध होता है कि जब परिग्रहवान सम्यक् दृष्टि चैतन्य स्वरूप में स्थिर हो सकता है तब परिग्रहवान मुक्ति प्राप्त क्यों नहीं कर सकता है ? चैतन्य स्वरूप में स्थिर होना ही तो मुक्ति

है इसके अतिरिक्त मुक्ति कौनसी वस्तु है सो कांजी बतावें।

दूसरी बात यह है कि इसमें चैतन्य स्वरूप में स्थिर होने से परिग्रह छूट जाने की बात कही गई है इससे यह भी सिद्ध होता है कि पहिले निसंगपणेका भाव होता है पीछे निसंगपणा होता है। अर्थात् ससंगवान के पहिले छठे गुण स्थान का भाव हो जाता है उसके बाद उसकी छठे गुण स्थानवर्ती मुनिपणेकी क्रिया होती है यह बात भी जैनागम से सर्वथा प्रतिकूल है क्योंकि जब परिग्रहधारी का परिग्रह के त्याग किये विनाही छठे गुण स्थान का भाव हो जाता है तब फिर परिग्रह त्याग करने की जरूरत कौनसी बाकी रह जाती है इस विषय का स्पष्टि-करण आगे करेंगे। यहां पर तो केवल उनके कहने का आशय मात्र प्रगट कर दिया गया है।

तीसरी बात यह कि परिग्रह का त्याग किये बिना चैतन्य स्वरूप में स्थिर होने से सर्व परिग्रह स्वतः छूट जाते है यह बात भी जैनागम से सर्वथा प्रतिकूल है क्योंकि इच्छा पूर्वक त्याग किये बिना त्यागी नहीं होता स्वतः परिग्रह पागलों का छूटता है यहां जैनागम में तो बुद्धि पूर्वक परिग्रह के त्याग करने से व्रती कहलाता है। तीर्थंकरादि महापुरुषों ने भी इच्छापूर्वक ही सर्व परिग्रहका त्याग किया था। वह भी सर्व परिग्रह का बुद्धि पूर्वक त्याग किये बिना चैतन्य स्वरूप में स्थिर नहीं हो सके थे, अन्य तुच्छ मनुष्यों की तो बात ही क्या है? सम्यक् दृष्टि चैतन्य स्वरूप में स्थिर होने से उसका सर्व परिग्रह अपने

आप छूट जाता है ऐसी बात कहना जैनागम के सर्वथा प्रतिकूल है। कारण यह है कि प्रथम तो उसके प्रत्याख्यानावरणी कषाय का उदय है इसलिये सम्यक्त्वी पर पदार्थों से उदास रहने पर भी उनको छोड़ने में असमर्थ है। यदि छोड़ने में असमर्थ नहीं होता तो उनसे उदास रहने पर भी उनको क्यों नहीं छोड़ता दूसरी बात यह है कि सामायिक करते समय सामायिक में स्थित श्रावक का उपयोग परिग्रह में नहीं है इस कारण वह परिग्रह-वान उस समय नहीं है ऐसा मानकर चैतन्य के स्वरूप में स्थिर होने से परिग्रह अपने आप छूट जाता है ऐसा समझना भी भारी अज्ञानता है क्योंकि उपयोग चाहे उस समय परिग्रह की तरफ नहीं है तो भी परिग्रह की वासना अंतरंग में बैठी हुई है वह इच्छापूर्वक उसका त्याग किये बिना नहीं निकलती। जिस प्रकार किसी की भावना शिखरजी की यात्रा करने की है और आज रातकी गाडी से वह जावेगा अतः दिन भर वह दूसरा काम करता है उस समय उसका उपयोग जिस कामको करता है उस तरफ है उस समय उसका शिखर जी की यात्रा करने की तरफ उपयोग नहीं है तो क्या उस समय उसके ऐसा मान लिया जाय कि अंतरंग से वह वासना निकल गई कि आज रात की गाडी से शिखर जी जाना है? कदापि नहीं निकली क्योंकि यदि उसके अंतरंग की वासना शिखरजी जानेकी मिट जाती अर्थात् नष्ट हो जाती तो नष्ट हुई भावना फिर जागृत होवे और वह रात की

गाडी से सिखर जी जावे यह बात नहीं बनती इसलिये मानना पड़ेगा कि उपयोग उस तरफ न होने पर भी अंतरंग वासना नष्ट न हुई इसलिये ही भावना फिर जागृत हो जाती है और वह रातकी गाडी से सिखर जी जानेको तैयार हो जाता है। उसी प्रकार सामायक में स्थित श्रावक का उपयोग सामायक करते समय अपने स्वरूप के चिंतवन में लगा हुआ है वाह्य परिग्रह की तरफ उसका उपयोग नहीं है तो भी उसकी अंतरंग वासना परिग्रह की तरफ से नष्ट न हुई। यदि नष्ट हो जाती तो सामायक के बाद फिर वह उस परिग्रह को ग्रहण करने रूप भावना उसकी जागृत नहीं होती और न वह फिर उस परिग्रह को ग्रहण ही करता। जिस प्रकार इच्छा पूर्वक त्यागे हुये पदार्थों को फिर कोई ग्रहण नहीं करता अतः इच्छा पूर्वक त्याग किये ही अंतरंग वासना नष्ट होती है इच्छापूर्वक विना त्याग किये अंतरंग वासना नष्ट नहीं होती इसलिये ही अपने आप छूटा हुवा पदार्थ फिर ग्रहण होजाता है। इसीकारण वह व्रती नहीं कहलाता है। देशावकाशिकव्रतकी सार्थकता वतलाते हुये समंतभद्राचार्य कहते है कि देशावकशिकव्रतीके इच्छापूर्वक सीमा के वाहिर भलीप्रकार स्थूल और सूक्ष्मरूप पांचों पापोंका त्याग होने पर भी वह देशावकाशिक व्रती सीमाके वाहिर महाव्रती के समान होने पर भी वह सीमा के वाहिर भी महाव्रती नहीं समझा जाता है क्योंकि उसके अंतरंग में प्रत्याख्यानावरण कषायका

उदय है इसलिये उसने परिग्रह की सीमा बान्ध रक्खी है उससे सर्वथा परिग्रह का त्याग नहीं बन सकता इसकारण सीमा के बाहिर भी महाव्रती कहलाने के योग्य नहीं हो सकता है।

सीमांतानां परतः स्थूलेतरपंचपापसंत्यागात्।
देशावकाशिकेन च महाव्रतानि प्रसाध्यंते ॥

तो फिर अपने आप परिग्रह छूट जानेसे महाव्रती किस प्रकार हो सकता है? अर्थात् नहीं हो सकता है।

"फिर चैतन्य में स्थिर होनेका अवकाश आनेसे बाह्याभ्यंतर सब परिग्रह छूट जाता है" ऐसा जो कांजीका कहना है इसका क्या अभिप्राय है? एक तो यह कि पहले चैतन्य स्वरूपमें स्थिर था फिर कारण पाकर चैतन्यरूप से च्युत हो गया है जैसा कि अन्यमती मुक्त जीव का फिर अवतार धारण करना बतलाते हैं उसीप्रकार परिग्रहसे उदासीन श्रावक पहले चैतन्य रूप में स्थिर था तब वह सर्व परिग्रह से रहित हो चुका था फिर कारणवशात् उस स्वभावसे च्युत होकर उदासीनरूपसे सर्व परिग्रहका ग्रहण किया फिर चैतन्यमें स्थिर होनेके अवसरकी बाट जोने लगा जब अवसर आया तब फिर चैतन्य स्वरूपमें स्थिर होनेसे सब परिग्रह छूट गया। इसलिये ही "फिर" शब्द का प्रयोग किया गया है अर्थात् फिर चैतन्य स्वरूपमें स्थिर होनेका अवसर आने पर"

ऐसा कहा गया है। संभव है कांजी इसी प्रकार चैतन्यस्वरूप में हमेशा स्थिर होते होंगे और फिर चैतन्य स्वरूप से च्युतहोकर परिग्रह का ग्रहण करते होंगे संभव है यह उनके अनुभव की बात हो अन्यथा वह ऐसा जैनागम के विरुद्ध नहीं लिख सकते क्योंकि जैनागम से परिग्रहवान चैतन्यस्वरूपमें कोई भी स्थिर नहीं हो सकता जैनागममें तो चैतन्यस्वरूप में स्थिर होना कहो या केवल ज्ञान में स्थिर होना कहो एकही बात है।

दूसरी बात चैतन्यमें स्थिर होने के अवसरकी यह भी हो सकती है कि मुनिव्रत धारण करने का अवसर प्राप्त होने पर चैतन्य स्वरूपमें स्थिर होनेका अवसर समझा गया हो जैसा कि आत्मधर्म अंक १२ वर्ष ६ में शांतिनाथ भगवान के दीक्षा कल्याणकके समय का वर्णन करते हुये लिखा है कि "भगवान शांतिनाथ दीक्षा समय विचार करते हैं कि अब अपने स्वरूपमें स्थिर होने का अवसर आया है" इस कथनसे मुनि होनेके बाद ही श्रावक चैतन्य स्वरूपमें स्थिर हो सकता है गृहस्था-श्रममें नहीं इसलिये चैतन्य स्वरूपमें स्थिर होनेसे सब परिग्रह छूट जाता है यदि यह बात कही गई है तो वह स्ववचन बाधित होनेसे मिथ्या ठहरती है।

तीसरी बात यह है कि चैतन्य स्वरूप में स्थिर होने से सब परिग्रह छूट जाते है सो क्या एक तो स्वमेव छूट जाता है या इच्छाकर छोडने से छूट जाता है। यदि स्वमेव छूट जाता

है तो स्वमेव किस प्रकार छूट जाता है एक तो जिस प्रकार पागल के शरीर पर से वस्त्रादि गिर जाता है और उसको उसका ज्ञान नहीं रहता तो क्या उसी प्रकार चैतन्य स्वरूप में स्थिर होनेका अवसर आने पर शरीर परसे स्वमेव धोती जामा पगड़ी जेवर वगैरह खुल खुल कर पड़ जाते हैं ? सो भी असंभव बात है क्योंकि धोती जामा इच्छापूर्वक नहीं खोलने से नहीं उतारनेसे अपने आप धोती नहीं खुलकर पड़ती और न गले में से जामा अपने आप निकलते और जेवर भी खोलकर गिराये विना उसी समय स्वमेव नहीं गिरते। इसलिये स्वमेव सब परिग्रह छूट जाने की बात मिथ्या है। यदि परिग्रह से निर्ममत्वभाव होनेको सर्व परिग्रह छूट जाता है ऐसा समझा गया है तो निर्ममत्व परिणाम तो पहिले ही था फिर इसमें नई बात क्या हुई ? शरीर पर तो धारण किये रहे और उससे निर्ममत्व परिणाम होना माने यह अजब ढंगका निर्ममत्वपना है और सर्व परिग्रह का छूट जाना है। यदि इच्छापूर्वक छोडने को छूट जाता है ऐसा कहा गया है तो निमित्तसे कुछ लाभ नहीं होता और मुनि व्रत धारण करना मिथ्या है ऐसा कहना भी मिथ्या ठहरता है। मुनिव्रत इच्छा पूर्वक ही धारण किया जाता है, तीर्थंकरादि महापुरुषों ने इच्छापूर्वक ही राज छोडा था अपने पुत्रोंमें वटवारा कर दिया था वस्त्रादिक इच्छापूर्वक ही उतारा था केशलोंच इच्छापूर्वक ही धारण किया था। विना इच्छा कोईभी क्रिया नहीं हुई थी विना इच्छा क्रिया पागलोंकी या

वच्चोंकी अथवा केवलीयों की होती है छद्मस्थोंकी बिना इच्छा कोई क्रिया नहीं होती अतः चैतन्य स्वरूपमें स्थिर होनेसे सर्व परिग्रह छूट जाता है ऐसा गोलमाल शब्द का प्रयोग करना पूरी मायाचारी है अन्यथा साफ शब्दोंमें स्वमेव छूट जाता है या छोडनेसे छूट जाता है ऐसा कहते। परन्तु साफ कहनेसे स्वमत का प्रचार नहीं होता इसलिये सर्व जगह गोलमाल शब्दोंका प्रयोग किया है जिससे भोले जीव उनके अंतः करण को न समझकर उनके वाकज़ालमें फंस जाते हैं।

आचार्यों ने अठाईस मूलगुणोंमें एकवार दिनमें निर्दोष आहार करना खडे रहकर भोजन करना इसको दो मूलगुण माना है जिसकी सिद्धि अपवादमार्गसे ऊपर की जा चुकी है किन्तु कांजी कहते हैं कि "मुनिने जो निश्चयप्रत्याख्यान की प्रतिज्ञा की थी उसमें निर्दोष आहार की वृत्तिका भी प्रत्याख्यान किया था (त्याग किया था) पंच महाव्रतकी शुभवृत्ति भी न करके मात्र चैतन्यके अनुभव में लीन होना ऐसी भावना थी।
आत्मधर्म वर्ष ६ अंक १२

जो मुनि आहार करते हैं जिससे प्रत्याख्यानका अर्थात् आहार त्यागके व्रतका भंग हुआ मानते हैं तो क्या मुनि आठ वर्ष घाट कोड पूर्वतक निराहार रहसकते हैं? कदापि नहीं। इसलिये आहार करना संयमकी रक्षा करना है इसके व्रतभंग बताना मानो मुनि पदका उच्छेद करना है और स्वतंत्र धर्म चलाना है मुनिराजोंके केशलुंचन करना भी अठाईस मूलगुणों

में एक मूलगुण इसलिये है कि यदि केशलोंच नहीं करैं और जटा वधावें तो जटामें जूं आदि सनमूर्छन जीवोंकी उत्पत्ति होजाने से परिणामों में अस्थिरता और जीवघात होनेसे संयम का घात होता है अथवा नाई आदि से छौर करावें तो पैसों की जरूरत पडे तब पैसोंके लिये याचना करनी पडे तब अजाच्कि वृत्तिका नाशहो इत्यादिक पापबन्धका कारण होने से केशलोंच करना संयम पालन करना है इसलिये केशलोंच करना मूलगुणोंमें एक मूलगुण है। इसको मूलगुणोंमें दोष मानना दोष रूप है। इसी प्रकार अचेलत्त्व भी एक मूलगुण है इसको विना संपूर्ण रूपमें पाले संयमका पालन भी नहीं हो सकता। वस्त्र रखने से वस्त्रको धोना, फटने से सिलाई करना, सर्वथा फट जाने से दूसरे वस्त्र की याचना करना इत्यादिक वस्त्र रखने से संयमका घातक महादोष उत्पन्न होजाता है। लज्जाका जीतना परिषहका सहन करना भी वस्त्रधारीके नहीं होता इसलिये वस्त्र त्यागको आचार्यों ने अठाईस मूलगुणोंमें एक मूलगुण माना है। भूमिशयन, स्नानका त्याग, दंतधावनका त्याग, यह भी मुनियोंके मूलगुणों में सामिल हैं इन सबका सविस्तर वर्णन मूलाराधनामें किया गया है जिसको देखना हो वहां से देख लेवे यहां पर तो संक्षेप में इनकी मूलगुणोंमें सिद्धि की गई है।

भूमि शयन करनेसे परिषह सहन करनेकी शक्ति बढती है सुखिया स्वभाव नष्ट होता है निद्रा पर विजय होता है इत्यादि भूमिशयनसे गुणोंकी वृद्धि होती है। स्नानके त्यागसे अदंतधा-

वनसे शरीरसे स्नेह दूर होता है स्नान करनेसे तथा दंतुन करने से भूमि पर जल गिरता जिससे चिंवटी आदि जीवोंकी विराधना होना संभव है उनकी रक्षार्थ इनका त्याग करना संयमकी रक्षा करना है इसलिये ये भी मूलगुण हैं।

पांचों इन्द्रियों पर विजय करना तो स्वतः मूलगुण है ही इन्द्रियों का विजेता ही तीन लोकका विजयी हो सकता है। इन इन्द्रियोंके वशीभूत प्राणी संसारमें नानाप्रकारके दुःख भोगता है। स्पर्श इन्द्रियके वशीभूत हाथी गर्तमें पडकर घोर कष्ट सहन करता है। रसनाइन्द्रियके वश झष (मीन) कंटकसे तालु छिदाकर मरण को प्राप्त होती है। घ्राण इन्द्रिय का लोलुपी भ्रमर कमलमें मुद्रित होकर अपने प्राणोंका नाशकर देता है। चक्षुइन्द्रियके आधीन पतंग दीपकमें पडकर नाशको प्राप्त होता है। तथा कर्ण इन्द्रियके अधीनस्थ हिरण अरण्यमें खल जो पारधी उसके वीणाकी राग में मोहित होकर अपने प्राणोंको खो वैठता है। अतः एक एक इन्द्रियके वशीभूत हो प्राणी अनेक कष्ट पाता है तो जो पांचों इन्द्रियके वशीभूत है उसके कष्टका तो कहना ही क्या इसलिये इन पर जो विजय करता है वह तीन लोकका विजयी हो जाता है इस कारण से इनको मूलगुण न कहें तो और क्या कहें ?

इसके अतिरिक्त छह आवश्यक भी मूलगुणोंमें इसलिये लिये गये है कि यह आवश्यक कर्म है अर्थात् अवश्य करने

योग्य यह कार्य है इसलिये इनको आवश्यक कर्म कहा गया है।
षट आवश्यकके नाम—

"समता वन्दन स्तुति करन पड़कोणो स्वाध्याय।
कायोत्सर्ग मुद्राधरन ये षट आवश्यक माय" ॥

समता भाव रखना, जिनेन्द्रदेवकी वन्दना करना, जिनेन्द्र देवकी नाना प्रकार से स्तुति पूजा करना, व्रतोंमें दोषोंकी शुद्धि केलिये प्रतिक्रमण करना, ज्ञानकी वृद्धिके लिये स्वाध्याय करना और शरीरसे निर्ममत्व होनेसे कायोत्सर्ग करना यह षट आवश्यक कर्म नित प्रति करने योग्य हैं। समताभाव रखने से नवीन कर्मोंका बन्ध नहीं होता पुरातन कर्मोंकी निर्जरा होती है इसलिये यह मूलगुण है जिनेन्द्रदेवकी वन्दना स्तुति करनेसे सम्यक्त्व गुणकी विशुद्धि होती है और संसार भ्रमणका निवारण होता है एवं मोक्षकी प्राप्ति होती है जैसे कहा है—

जिने भक्तिर्जिने भक्तिर्जिने भक्तिः सदाऽस्तु मे।
सम्यक्त्वमेव संसारवारणं मोक्षकारणं ॥

जिनेन्द्रदेवके गुणोंमें अनुराग होना ही अपने गुणोंमें अनुराग होना है इसलिये ये मूलगुण हैं तथा व्रतोंमें दोषोंकी निवृत्ति करनेके लिये प्रतिक्रमण करना अर्थात् व्रतोंको निर्मल बनाने के लिये प्रतिक्रमण करना मूलगुण है। ज्ञानकी वृद्धि शास्त्र स्वाध्यायसे होती है और ज्ञान की वृद्धि से चारित्र में निर्मलता आती है इसलिये स्वाध्याय करना मूलगुण होजाता

है। आत्माके सबसे जबरदस्त परिग्रह शरीर है और सब परिग्रह इस शरीरके लारे हैं इस शरीर की रक्षार्थ ही सर्व परिग्रह का ग्रहण होता है इसलिये शरीरसे उत्सर्ग होना अर्थात् शरीर से निर्मोही होना कायोत्सर्ग कहलाता है और यह कायोत्सर्ग मोहका नाश करता है इसलिये यह मूलगुण है। अतः इन अठाईस प्रकार के मूलगुणोंको मूलगुण न मानकर इनको चारित्र का दोष मानना दोष बताना विवेकशून्यता है और आगमकी अनभिज्ञता है।

कांजी स्वामी यह भी कहते हैं कि तीर्थंकर भगवान कमंडल नहीं रखते क्योंकि उनको शौचादिक की बाधा तो होती ही नहीं इसलिये रखते नहीं क्योंकि यह शौचोपकरण है और शौचोपकरणकी उनको आवश्यकता नहीं तथा यह भी कहते हैं कि तीर्थंकरोंको वैराग्य होते ही लौकांतिक देव आकर उनको संबोधन करते हैं और भगवान उसी क्षण बनको रवाना हो जाते हैं परन्तु यह दोनों ही बात असंगत हैं क्योंकि तीर्थंकरों के कमंडल नहीं होता ऐसा किसी भी शास्त्रमें देखनेमें नहीं आया तथा उनके नीहार नहीं है इस कारण उनको कमंडल रखने की जरूरत नहीं यह हेतु भी अपर्याप्त है क्योंकि उनके टट्टी पेसावकी बाधा नहीं होती तो भी आहारके समय शरीर शुद्धि उनको भी करनी पडती है तथा हाथ पैरोंकी शुद्धि मंदिरादिमें प्रवेश के समय ध्यानके समय करनी पड़ती है और यह मुनिका चिन्ह है

मुनिके पास कमंडल और पिच्छि होना ही चाहिये तथा मार्ग भी उन्हींसे चलता है उनके पास कमंडल न हो तो दूसरा कमंडल पासमें कौन रक्खे। आदिनाथ भगवान के साथ चार हजार राजा मुनि हुये थे सो उनके देखा देखी ही हुये थे उस समय उन्होंने उनको यह तो नहीं कहा कि तुम कमंडल रक्खो, मैं कमंडल बिना ही रहूंगा अथवा वे चार हजार राजा भगवान के देखा देखी मुनि हुये थे सो क्या वे भी बिना कमंडल के ही हुये? ऐसा कथन क्या आदिपुराण में है? यदि नहीं है तो अपने मनसे आगम विरुद्ध बात लिख देना क्या न्याय संगत है यह सब बातें आत्मधर्मअंक १२ वर्ष ६ में लिखी हैं।

भगवान क्या दूसरे भी वैराग्य होते ही मुनि बन जाय सो बात नहीं, सबको घरकी सम्पत्ति की राजपाटकी, व्यवस्था बटवारा, करके घर से निकलना पड़ता है इसमें कुछ समय भी लगता है इसलिये ऐसा समझना कि भगवान को वैराग्य होते ही भगवान घरसे निकल जाते हैं गलत है उनको भी थोडी बहुत व्यवस्था करनी पडती है तथा उनका तप कल्याणक महोत्सव मनाने में भी काफी समय लगता है कहने में समय नहीं लगता कहने में तो यही आता है कि भगवान को वैराग्य होतेही लौकांतिक देव आकर उनके वैराग्यकी प्रशंसा करते हैं और भगवान उसी समय वनको चले जाते है किन्तु वनको जाने में समय लगता है अतः विद्वानोंका यह कर्तव्य होना चाहिये कि सैद्धांतिक बात अच्छी तरह समझकरके लिखें जिससे

आगममें विरोध न आवे आगम की जानकारी विना कुछ भी न लिखे इसीमें सबका (आपका और परका) कल्यान है।

आचार्य कुन्द कुन्द स्वामी ने रयणसारमें बतलाया है कि आगमके विपरीत जो दान पूजा आदि धर्मायतनोंका उत्थापन करता है वह जीव कोढ़ी के समान है जिस प्रकार कोढ़ी अपने कुलका समूल नाश कर देता है उसी प्रकार आगम विरुद्ध प्ररूपणा करनेवाला पुरुष: धर्माचरण, धर्मायतनोंको नष्ट करता है। निषेध करता है।

तणुकुट्ठी कुलभंगं कुणइ जहा मिच्छमप्पणो वि तहा
दाणाइ सुगुणभंगं गइभंगं मिच्छसेवहो कट्ठं ॥

ऐसे जीवोंको देव शास्त्र गुरुओं पर श्रद्धा नहीं होती इसीलिये ही वे दान पूजा यात्रा से धर्म होता है इस बातका निषेध करते हैं और वे केवल, ज्ञान बलसे कर्मोंको नष्ट कर देना मानते हैं अन्यथा पंच महाव्रत रूप चारित्रसे बंध होना नहीं मानते किन्तु कुन्दकुन्द स्वामी इस बातका निषेध करते है वे ज्ञान बल से कर्मोंकी निर्जरा होना नहीं मानते इसलिये वे ज्ञान बलसे निर्जरा होना मानकर जो चारित्र धारण करनेका निषेध करते हैं उनको मिथ्यादृष्टि बताते हैं—

णाणी खवइ कम्मं णाणबलेणेदि सुबोलए अण्णाणी
विज्जो भेषज्जमहं जाणे इदि ण णस्सदे वाही। रयणसार।

आचार्य कहते हैं कि जिस प्रकार रोगादिकको और उसकी औषधीको जान लेनेसे रोग नहीं कटता, रोग तो औषधि सेवन करनेसे ही कटेगा उसी प्रकार चारित्रके धारण किये विना केवल ज्ञानवलसे कर्म नहीं कटता अतः जो ज्ञानवलसे कर्मकी निर्जरा होनी मानकर चारित्र धारण नहीं करता है या चारित्र धारण करनेका निषेध करता है इसके लिये आचार्य कहते हैं कि श्री सर्वज्ञदेवने जो कहा है उसीके अनुसार गणधर देवने और उनके पीछे वीतरागी आचार्योंने जो प्रतिपादन किया है वह सब प्रमाण भूत है अतः श्रद्धान करने योग्य है ऐसा जानकर जो श्रद्धान करता है वह सम्यक्दृष्टि है किन्तु जो मति श्रुति ज्ञानके मदमें वेहोस होकर सर्वज्ञ देवके वचनोंका मनकल्पित यद्वा तद्वा सत्यार्थ को छिपाकर विरुद्ध अर्थ करता है वह मिथ्या दृष्टि है। रयणसारमें यह लिखा है—

"पुव्वं जिणेहि भणियं जहट्ठियं गणधरेहि वित्थरियं
पुव्वाइरिकमजं तं बोल्लइ जो हु सद्दिट्ठी ॥
मदिसुदणाणवलेण दु स्वच्छदं बोल्लई जिणुत्तमिदि
जो सो होइ कुदिट्ठी ण होइ जिणमग्गलग्ग रवो" ॥

आचार्य कुन्द कुन्द स्वामी कहते हैं कि सब रत्नों में सम्यग्दर्शन सारभूत रत्न है और वह व्यवहार-एवं निश्चय दोय भेद रूप है—

"सम्मत्तरयणसारं मोक्खमहारुक्खमूलमिदिभणियं
तं जाणिज्जइ णिच्छय ववहार रूवदोभेदं ॥

आचार्य कुन्द कुन्द स्वामीके इन वचनोंके विरुद्ध कांजी भाई कहते हैं कि व्यवहार से कुछ भी लाभ नहीं होता है जो व्यवहारसे लाभ मानता है वह मिथ्यादृष्टि है। यदि व्यवहार से लाभ नहीं होता तो आचार्य कुन्द कुन्द स्वामी ने व्यवहार सम्यक्‌दर्शनको भी सब रत्नोंमें सारभूत रत्न किसलिये बताया और अपवाद मार्गरूप व्यवहार चारित्रको निश्चयरूप उत्सर्ग मार्गका अविनाभावी सम्बन्ध किसलिये बताया अतः व्यवहार और निमित्तका निषेध करके जो जैनागमका लोप करता है उसको दिगम्बर जैन कहना सरासर अज्ञानता है।

कांजी का कहना है कि "अज्ञानी कहते हैं निमित्त और व्यवहार आश्रयसे धर्म होनेका आप अस्वीकार करते हैं तो क्या निमित्त नहीं है? व्यवहार नहीं है? ऐसा कहकर वे निमित्त और व्यवहारके आश्रयसे लाभ मानना चाहते हैं, परन्तु ज्ञानी कहते हैं कि अरे भाई! निमित्त और व्यवहार नहीं है ऐसा किसने कहा? परन्तु उसके आश्रयसे लाभ होता है ऐसी बात कहांसे लाया? जगतमें तो सब है निमित्त भी है उससे क्या? क्या उसके आश्रय से आत्माको ज्ञान होता है? व्यवहारका राग और विकल्प है उससे क्या? क्या उसके द्वारा सम्यक् श्रद्धान ज्ञान चारित्र होता है ऐसा कभी नहीं होता।"

"आत्मधर्म अंक १२ वर्ष ६

कांजी की दृष्टिमें निमित्त और व्यवहारके आश्रयसे धर्म होता है अर्थात् सम्यक्दर्शन, ज्ञान, चारित्र होता है ऐसा मानने वाले सभी पूर्वाचार्य अज्ञानी थे क्योंकि निमित्त से और व्यवहारसे कुछ भी लाभ नहीं होता। कांजीकी दृष्टिमें वही ज्ञानी है जो निमित्त और व्यवहारसे लाभ होना नहीं मानते अतः संभव है कांजी अपने को ज्ञानी ही समझकर ही निमित्त और व्यवहारसे लाभ होनेका निषेध करते हैं। किन्तु जैनागम इससे सर्वथा प्रतिकूल है विना निमित्तके उपादानकी उपलब्धी नहीं होती और विना व्यवहारके केवल निश्चय निश्चयाभास है। अनादि मिथ्यादृष्टिको गुरु देशनादिकका निमित्त कारण मिले विना सम्यक्त्वकी प्राप्ति नहीं होती "तन्निसर्गादधिगमाद्वा" ऐसा जो तत्त्वार्थ सूत्रमें बतलाया है इस सूत्रकी टीका सर्वार्थ-सिद्धि है उसमें सम्यक्दर्शनकी उत्पत्तिमें अनेक बहिरंग निमित्त कारणोंका निरूपण किया गया है। जिन–बिम्बदर्शन, जाति स्मरण, जिनमहिमा अवलोकन देवऋद्धिदर्शन, वेदनानुभव, धर्मोपदेश इत्यादि ये सब सम्यक्त्व उत्पन्न होनेमें सहकारी कारण हैं। पांचों लब्धियां भी बहिरंग कारण हैं इन लब्धियोंके विना सम्यक्त्व उत्पन्न होता ही नहीं। तीर्थंकरों को भी पूर्व जन्मोंमें परोपदेश मिला था उनके भी विना निमित्त सम्यक्त्व प्राप्त नहीं हुआ था और विना निमित्तके वैराग्य भी उत्पन्न नहीं हुआ था। निसर्ग सम्यक्त्व का अर्थ कोई यह न समझलें कि स्वभाव से उत्पन्न होने वाला निसर्ग सम्यक्त्व कहलाता है।

यदि ऐसा अर्थ किया जायगा तो एकेन्द्रिय आदि अभव्य पंचेन्द्रियपर्यंत सबके सम्यक्त्वकी सिद्धि माननी पड़ेगी क्योंकि आत्म स्वभाव सबका एकसा है और वह उपादान कारण है ही इसलिये निसर्गज सम्यक्त्व भी अधिगमज पूर्वक ही होता है, वर्तमान पर्यायकी अपेक्षा निसर्गज कहा गया है किन्तु पूर्व पर्याय अपेक्षा अधिगमज ही है पूर्व पर्यायमें देशना लब्धिका समागम मिला था उस निमित्त से इस पर्यायमें बिना उपदेशके भी देवदर्शनादि निमित्त पाकर सम्यक्त्व उत्पन्न होजाता है। इसको निसर्गज सम्यक्त्व कहते है वह भी भव्य पर्याप्त के साकारोपयोग कर्मोंका क्षयोपशम अवस्थामें उत्पन्न होता है क्षायिक सम्यक्त्वकी प्राप्ति केवली और श्रुतकेवली के निकट ही होती है अन्य प्रकार नहीं होती। सो भी उत्तम त्रिवर्णिक कर्मभूमिज मनुष्योंके ही होती है। देव नारकी भोग भूमिया मनुष्यके नीचकुलोत्पन्न मनुष्योंके स्त्रीपर्याय में एवं तिर्यंचयोनि में क्षायिक सम्यक्त्व उत्पन्न नहीं होता। यदि निमित्तकारण नहीं माना जाय तो फिर यह बन्धन क्यों ? जो ऊपर बतलाया गया है। मोक्ष प्राप्तिमें भी कर्म भूमि उत्तम कुल, सजातित्व, वज्रवृषभनाराचसंहनन, आदि निमित्त मिले ही महाव्रतादि धारण कर शुक्लध्यान की प्राप्ति कर सकता है। अतः उपरोक्त सामग्री की प्राप्ति बिना व्यवहार धर्म साधनके नहीं होती और बिना उपरोक्त सामग्री के मोक्षकी प्राप्तिभी नहीं होती अतः निश्चय आत्म सिद्धिके लिये व्यवहार धर्मकी और व्यवहार धर्मके साधनों

के निमित्तोंकी शरण लेनी पडती है। यदि विना निमित्तोंका और विना व्यवहार धर्मोंका आश्रय लिये मोक्ष सुखकी प्राप्ति होती हो तो कांजी करके दिखलावें क्योंकि निमित्तोंके और व्यवहारोंसे लाभ हानि न मानने वाले कांजीके पंचमकाल और हीन संहनन मोक्ष प्राप्तिमें बाधक कारण नहीं है। परन्तु विना निमित्तका और विना व्यवहार धर्मका आश्रय लिये मोक्ष सुख की प्राप्ति न आज तक किसी को हुई और न भविष्यमें किसी को होगी। साधन के विना साध्यकी सिद्धि मानने वाले कांजी विना आटेके रोटी बनाकर पेट भरना चाहते है। सो हो नहीं सकता। यदि विना साधनके साध्य की सिद्धि हो जाती तो तीर्थ-करादि महा पुरुष संपूर्ण परिग्रहोंका त्याग कर महाव्रतादि धारणकर वनवासी क्यों बनते ? उनके तो अवधिज्ञान भी था और वे जानते भी थे कि मैं इस पर्यायसे ही मुक्ति प्राप्त करूंगा फिर उनको महाव्रतादि मूलगुणोंको धारण करनेकी क्या जरूरत थी उनकी शक्ति चैतन्य स्वरूप में स्थिर होनेकी थी फिर भी उनको चैतन्य स्वरूपमें स्थिर होनेके लिये सर्व प्रकार के परिग्रह का त्याग कर व्रत धारण करना ही पड़ा इससे यह साफ सिद्ध होता है कि बाधक कारणोंको हटाये विना और साधक कारणों को मिलाये विना मोक्ष सुखकी प्राप्ति नहीं होती इसलिये तीर्थंकरादि कों को भी बाधक निमित्त कारण बाह्य परिग्रहों को हटाकर साधक महाव्रतादि निमित्त कारणों को मिलाना पड़ा तबही मोक्ष सुखकी प्राप्ति वे कर सके थे।

अतः मानना पडेगा कि विना वाह्य साधनोंके अंतरंग भावोंका विकाश नहीं होता ऐसा नियम है। इसलिये वाह्यसाधनोंका निमित्त मिलाना पड़ता है।

इसमें इतनी बात जरूर है कि वाह्य निमित्त कारणोंके मिलने पर अंतरंग भावोंका विकाश न भी हो सकता है जबतक कि संपूर्ण वाधक कारण दूर न हो जाय और संपूरण साधक कारण न मिल जाय। किन्तु अंतरंग भावोंका विकाश तबही हो सकता है जब वाह्यबाधक निमित्त कारणों को हटाया जायगा और साधक वाह्यकारणोंको मिलाया जायगा ऐसा किये विना उपादान की उपलब्धि तीनकालमें न हुई और न होगी ऐसा अटल नियम है।

उपादान की प्राप्तिमें मूलभूत तत्त्व उपादान है यह बात सत्य है परन्तु उपादान की उपलब्धिमें बाह्य निमित्त कारण भी प्रधान हेतु है। क्योंकि विना बाह्य निमित्तके लिये उपादान की अभिव्यक्ति कभी नहीं हो सकती है यह जैनागम का अटल सिद्धांत है। यह बात ऊपरमें दिखाई जा चुकी है तोभी दृष्टांतद्वारा और भी स्पष्ट कर देते हैं। जिसप्रकार घट की प्रगटतामें उपादान मूलभूत मिट्टी अवश्य है तोभी उस मिट्टी का घट तब ही वन सकता है जब कि उस मिट्टी को कुम्हारादिक का निमित्त मिलेगा। यदि कुम्हारादिक बाह्य निमित्त कारणोंके विना मिट्टीसे घट स्वयमेव उत्पन्न हो जाता हो तो कांजीस्वामी का कहना सत्य है। उपादान की उपलब्धिमें

बाह्य निमित्तकी कोई जरूरत नही किन्तु ऐसा हो तब न। बिना निमित्त कारणके उपादान कारण की अभिव्यक्ति नहीं होती इस बातको समयसारजी भाषा में भी प्रगट कर दिखाया है।

ज्यों माटी माहि कलश होनकी शक्ति रहे ध्रुव,
दंड चक्र चीवर कुलाल बाहिज निमित्त हुव।
त्यों पुद्गल परमाणु पुंज वरगणा भेष धरि,
ज्ञानावरणादिक स्वरूप विचरति विविधपरि।
बाहिज निमित्त वहिरातमा गहि संशै अज्ञानमति,
जगमांहि अहंकृतभावसों कर्मरूप ह्वै परिणमति॥

इसमें यह बात बताई गई है कि दंड चक्र चीवर कुलालादि बाहिज निमित्तके मिलने परही मिट्टी का घटरूप परिणमन होता है उसीप्रकार बाहिज वहिरात्मा का निमित्त मिलनेसे पुद्गल परिमाणु कर्मरूप परिणमन करता है इससे यह सिद्ध होचुका कि जिसप्रकार विना कुम्हारादिकका बाह्य निमित्त मिले मिट्टीका घट नहीं बनता उसीप्रकार जीव के राग द्वेष परिणामोंके विना पुद्गल परिमाणु कर्मरूप परिणमन नहीं करता तथा जीव भी द्रव्य कर्म के उदय का निमित्त मिले विना राग द्वेष परिणाम नहीं करता यह निमित्तनैमित्तिक संबंध है।

अर्थात् उपादान भी विना निमित्त कारण मिले अपने

आप कुछ नहीं कर सकता है और निमित्त कारण भी विना उपादान के कर ही क्या सकता है? परस्पर दोनोंका संयोग मिलने परही कार्य संपादन हो सकता है अन्यथा नही अतः निमित्त और व्यवहार से लाभ मानने वालों को अज्ञानी (मूर्ख) बतानेवाला इस कथन से स्वयं अज्ञानी सिद्ध हो जाता है।

निमित्त कारण तो ऐसा जबरदस्त होता है कि उसके सामने उपादान भी कुछ नहीं कर सकता है।

जैसे गजराज पर्यो कर्दमके कुंडवीच,
उद्दिम अरूढ पै न छुटे दुःख दंदसों।
जैसे लोहकंटककी कीलसों उरझ्यो मीन,
खेंचत असाता लहे साता लहे संदसों।
जैसे महाताप सिर वाहिसों गरास्यो नर,
तके निज काज उठ सके न सुछन्दसों।
तैसे ज्ञानवन्त सब जाने न वसाय कछु,
बन्ध्यो फिरे पूर्व करम फल फंद सों।

समयसार हिंदी भाषा

सारांश यह है कि अनादि कालसे यह जीव कर्मों के निमित्तसे जड़वत हो रहा है मिथ्यात्व के निमित्त से यह जीव अनादिकालसे चतुर्गतीमें परिभ्रमण कर रहा है। केवल ज्ञाना-

वरणके कर्मके निमित्तसे आत्मा अज्ञानी केवलज्ञानशक्तिको व्यक्त नहीं कर सकता। इससे अधिक निमित कारण और क्या करेगा। उपादान आत्माको परनिमित्तिने मुर्दासा बना रक्खा है।

जिसप्रकार निमित्त कारणों के विना उपादान की प्रगटता नहीं होती उसीप्रकार व्यवहार के विना परमार्थ की सिद्धि भी नहीं होती अतः परमार्थ सिद्धि के लिये व्यवहारधर्मका आश्रय लेना परमावश्यक है।

ज्यों नर कोउ गिरे गिरसों,
तिन होइ हितू जु गहे द्रढ वाहीं।
त्यों बुधको व्यवहार भलो,
तबलों जबलों शिव प्रापति नाहीं।
यद्यपि यो परिणाम तथापि,
सधै परमारथ चेतन माहीं।
जीव अव्यापक है परसों,
विवहार सु तो परकी है परिछांही।

इसमें यह बात बताई है कि जबतक मोक्ष न हो तबतक ज्ञानी जीवोंको व्यवहार साधन करते रहना चाहिये। यह बात प्रमाणभूत है तथापि परमार्थ की सिद्धी चेतन में ही होती है। इस बात को हम उपर स्पष्ट कर चुके हैं कि उपादान

की प्राप्ति में उपादान ही मूलभूत वस्तु है। परन्तु उसकी सिद्धि में निमित्त प्रधान है इसलिये इस छंदमें यह बताया है "त्यों बुधको विवहार भलो तबलों जबलों शिव प्रापति नाही" अर्थात् जबतक परमार्थ की सिद्धि न हो तबतक व्यवहार धर्म का साधन करते रहना चाहिये क्योंकि व्यवहार के बिना निश्चयकी सिद्धि नहीं होती। इस बातकी पुष्टी इस बातसे होजाती है कि—

जो बिन ज्ञान क्रिया अवगाहै,
जो बिन क्रिया मोक्षपद चाहै।
जो बिन मोक्ष कहे हम सुखिया,
सो अजान मूढनमें मुखिया॥

समयसार नाटक भाषा।

अर्थात् मोक्ष मार्गके बिना समझे जो क्रिया करता है वह भी अज्ञानी और जो मोक्ष मार्ग समझकर भी मोक्षके लिये क्रिया नहीं करता है, बिना मोक्षमार्ग में गमन कीयेही मोक्ष सुख चाहता है वह भी अज्ञानी है मूर्ख है। तथा जो मोक्षप्राप्ति किये बिनाही मोक्ष सुख का अनुभव संसार अवस्थामें करता है वह भी पागल के समान अज्ञानी है। सारांश यह है कि बिना समझे मोक्षके अर्थी क्रिया करता है वहभी मिथ्यादृष्टि है और समझ करके आत्माको बन्ध न मानकर मोक्षमार्ग में नहीं लगता है वह मिथ्यादृष्टि है इसलिये यथा योग्य द्व्

करने से ही यह जीव संसार समुद्रसे पार हो सकता है इसी बातको स्पष्ट करते हुवे भाषा समयसारमें इस रूप कहा है

समझै न ज्ञान कहै कर्म किये सों मोक्ष,
ऐसे जीव विकल मिथ्यात्वकी गहलमें।
ज्ञानपक्ष गहे कहै आतमा अबन्ध सदा,
बरतैं सुछंद तेउ डूबे हैं चहल में।
यथा योग्य करम करे पै ममता न धरे,
रहे सावधान ज्ञानध्यानकी टहलमें।
तेई भवसागरके ऊपर व्है तरैं जीव,
जिन्हको निवास स्यादवादके महलमें॥

क्या कांजी स्वामी इस बातको मानते हैं? यदि मानते हैं तो निमित्तसे और व्यवहारसे लाभ होने का निषेध क्यों करते हैं यदि नहीं मानते हैं तो वह दिगम्बरी कैसे? क्यों कि जो जिस धर्मका होता है वह उस धर्मगुरुओंका वचन मानता है और उनके प्रतिकूल न आचरण करता है और न प्रचार करता है। जैनागम में तो निमित्त और व्यवहार से लाभ नुकसान दोनों होता है ऐसा सिद्ध होता है अर्थात शुभनिमित्त और व्यवहार धर्मसे लाभ होता है तथा अशुभनिमित्त अशुभ व्यवहारसे नुकसान होता है ऐसा कहा गया है। किंतु जो निमित्त और व्यवहारसे लाभ होना नहीं मानता

है उनके सिद्धांतसे यह भी सिद्ध हो जाता है कि निमित्त और व्यवहार से नुकसान भी नहीं होता इसीलिये कांजीस्वामी अव्रत अवस्था में स्वच्छंद प्रवृत्ति करते हैं और शरीराश्रित क्रिया से धर्म नहीं होता ऐसा मानते हैं। अतः उनके सिद्धांत से शरीराश्रित क्रियासे जब धर्म नहीं होता है तब उनके सिद्धांतसे शरीराश्रित क्रियासे अधर्म भी नहीं होता है। यह बात स्वतः सिद्ध हो जाती है। इसके अतिरिक्त कांजी जब शरीराश्रित दान पूजा तीर्थ यात्रादि क्रिया करने को मिथ्यात्व मानते हैं तब उनकी इस मान्यता के अनुसार दान न देना पूजा न करना तीर्थयात्रा न करना स्वच्छंद होकर पांचों इन्द्रियोंके भोग भोगना सम्यक्त्व होना स्वतः सिद्ध है अतः इसीलिये ही संभव है वे शरीराश्रित क्रियाओंसे धर्म होने का निषेध करते हैं तो क्या यह बात जैनसिद्धांतानुकूल है? क्या कोई शरीर के विना ही शुभाशुभ क्रिया कर सकता है? अथवा शरीर के बिना ही क्या कोई मन वचन कायकी प्रवृत्ति कर सकता है या शरीर के विनाही क्या कोई मोक्ष प्राप्ति की सिद्धि कर सकता है? यदि नहीं कर सकता है तो फिर ऐसा किसलिये कहा जा रहा है कि शरीराश्रित क्रियासे धर्म नहीं होता और शरीराश्रित क्रियासे धर्म होना माननेवाला मिथ्यादृष्टि है? जब शरीराश्रित क्रियासे धर्म नही होता तब शरीराश्रित क्रियासे अधर्म भी नही होना चाहिये, यदि कहा जाय कि शरीराश्रित क्रियासे धर्म नहीं होता किंतु शरीराश्रित क्रिया से तो शुभा-

शुभ कर्मबन्ध होता है इसलिये शरीराश्रित क्रियासे धर्म मानना मिथ्यात्व है यह बात भी जैनागमसे सर्वथा प्रतिकूल है क्योंकि ध्यानकी सिद्धि भी शरीराश्रित ही है जो कर्म निर्जरा का प्रधान कारण है अतः शरीराश्रित क्रियाओंसे धर्म नहीं होता ऐसा माननेवाला व्यक्ति शरीराश्रित क्रिया किये बिना ही मोक्ष सुखकी प्राप्ति करना चाहता है ? वह मूर्खोंका शिरोमणी है ऐसा ऊपरमें बतलाया जा चुका है। अर्थात्—

जो बिन ज्ञान क्रिया अवगाहै,
जो बिन क्रिया मोक्षपद चाहै।
जो बिन मोक्ष कहे मैं सुखिया,
सो अजान मूढनमें मुखिया॥

यह समयसार का वाक्य है। अतः शरीराश्रित क्रियाओं से धर्म नहीं होता ऐसा मानने वाला पक्का नास्तिक है उनके सिद्धांतसे "यावज्जीवं सुखं जीवेत् ऋणं कृत्वा घृतं पिबेत्। भस्मीभूतस्य देहस्य पुनरागमनं कुतः" ऐसा सिद्ध होता है

यहां पर कोई यह कहे कि कांजीस्वामी निमित्त और व्यवहार का निषेध कब करते हैं उन्होंने तो कई मन्दिर बनवाकर उनकी प्रतिष्ठाएं कराई हैं और नित पूजन करते हैं तथा शास्त्र स्वाध्याय भी करते हैं इसलिये वे निमित्त और व्यवहार को मानते हैं अन्यथा वे एसी प्रवृत्ति नहीं करते एवं इन कारणों से वे दिगम्बरी भी सिद्ध होते हैं क्योंकि दिगम्बर

आम्नाय के ही वे मन्दिर बनवाये हैं दिगम्बर आम्नाय के अनुसार उन मन्दिरों की प्रतिमा की प्रतिष्ठा करवाई है और दिगम्बर आम्नाय के ही वे ग्रन्थों का पठन पाठन करते हैं एवं अनेक श्वेताम्बरों को वे दिगम्बरी बना चुके हैं इसलिये वे पक्के दिगम्बरी है।

उपर्युक्त कारणों से उनके दिगम्बरी होने में कोई शंका बाकी नहीं रह जाती ऐसा कहने वाले सज्जन गलतीपर हैं क्यों कि प्रथम तो वे खुदही दिगम्बरी नहीं हैं वे श्वेताम्बरों को दिगम्बरी क्या बनावेंगे प्रत्युत दिगम्बरों को तो अवश्य नास्तिक बना दिया है जिससे बहुतसे दिगम्बरी भाई दान पूजा तीर्थ यात्रादि से शुभ बन्ध संसार का कारण मानकर छोड़ बेठें है जो श्रावकों का नित्य करने योग्य आवश्यक कर्म था।

दो चार मन्दिर बनवाकर प्रतिष्ठा भी करवा दी जिससे भी वे दिगम्बरी सिद्ध नहीं हो सकते यह तो दिगम्बरीयों को अपने सिद्धांत में फसाने का ऊपरी षडयंत्र है। यदि ऐसा नही है तो फिर दान पूजा तीर्थ यात्रा करने को मिथ्यात्व बताकर इसका निषेध क्यों करते हैं। एक तरफ तो मन्दिर बनवाना स्वयं पूजा करना दूसरी तरफ मन्दिर पूजा प्रतिष्ठा कराने को मिथ्यात्व बताना षडयंत्र नही तो और क्या है ? मन्दिर तो बहुत हैं जैसे वे मन्दिर हैं वैसे यह मन्दिर भी धरे रहेंगे। मन्दिरोंसे धर्म का प्रचार नहीं होता मन्दिरोंसे तो

धर्माराधन होता है धर्म का प्रचार जो होता है वह साहित्य से होता है अतः साहित्य तो उन्होंने ऐसा बनाकर रख दिया है जिससे भविष्यमें उनको पढ़कर लोग मंदिर जाना पूजा करना ही छोड देंगे फिर मंदिरोंके ताला ही लगा रहेगा व जिससे थोडे दिनोंमें ही धराशायी बन जावेंगे "न रहे बांस न बजे बांसुरी" "न रहे मंदिर और न रहे धर्मात्मा" यह बात बनेगी इसलिये मंदिर बनवानेसे और उनकी प्रतिष्ठा कराने से वह पक्के दिगम्बरी तो क्या कच्चे दिगम्बरी भी नहीं सिद्ध हो सकते हैं।

कांजी अपने स्वतन्त्र मतका प्रचार करना चाहते हैं इसीलिये श्वेताम्बरी भेषमें दिगम्बरी बनते है। दिगम्बर आम्नाय के दो चार मन्दिर बनवाकर उनकी प्रतिष्ठा करवा दी और समयसारादि दो चार द्रव्यानुयोग ग्रन्थ पढकर सुनादिये जिससे उनके अंतरंग का हर एक को पता नहीं चलता कि इनके अंतरंग में क्या है क्योंकि द्रव्यानुयोगमें विशेष कर शुद्ध द्रव्य की ही कथनी रहती है इसलिये उनके पढनेमें करना धरना कुछ नहीं पडता और दिगम्बरी लोग समझते हैं कि यह दिगम्बरी हैं तथा श्वेतांबरी लोग भी उनका भेष देखकर समझते हैं कि यह श्वेतांबरी है। दोनु संप्रदायके लोगों को खुश रखकर उनके मध्यवर्ती कांजी स्वामी अपना एक नया पंथ प्रगट करना चाहते हैं कुछ इधरकी कुछ उधरकी मान्यता को मिलाकर

खिचडी बनाकर सबको खिलाना चाहते हैं जिससे अपना नाम हो जावे।

मंदिर बनाये बिना पूजा कीये बिना प्रतिष्ठा कराये बिना नाम कैसे होय और लोग उनको दिगम्बरी मानकर उनके पीछे कैसे लगैं लोगोंको अनुकूल करने के लिये थोडा बहुत ढोंग रचना भी पडता है। जिसप्रकार बाबा सीतलप्रसादजी ने ढोंग रचा था एक तरफ तो आप ब्रह्मचर्य प्रतिमा धारण कर ब्रह्मचारी बन बैठे थे जिससे भोले जीव उनको ब्रह्मचारी मानकर उनके पीछे लग गये। दूसरी तरफ वे ब्रह्मचारी की ओटमें ब्रह्मचर्य का घातक विधवा विबाह का प्रचार करते रहे यह सब लोगों को अपनी तरफ खींचने का तरीका है।

महात्मा गांधीजीने भी अपनी निर्बलता के कारण अहिंसा का हथियार हाथ में लेकर दुनिया को अपनी तरफ खींचा और जनबल से स्वराज प्राप्त कर अपना: अमर नाम कर दिया किंतु उसी अहिंसा का खास तत्त्व वर्णाश्रम का पालन करना मन्दिरादिककी पवित्रता का रखना "आत्मवत् सर्वभूतेषु" समझना था उसी अहिंसा तत्त्वका अहिंसक बनकर आपने सर्व नाश कर दिया उसीप्रकार कांजीस्वामी भी दिगम्बरी बनकर दिगम्बर धर्म का खास तत्त्व जिनलिंग जिनपूजा, दान, यात्रा की श्रद्धा को मिथ्या श्रद्धा बताकर दान पूजा तीर्थ यात्रा का पंच महाव्रत धारण करने का निषेध कर भोले जीवों को अश्रद्धानी बनादिया इसलिये लोग दान

पूजा तीर्थ यात्रा को संसार कारण मानकर दान पूजादि अपने कर्तव्य कर्म को छोड़ बैठें हैं उनके दिगम्बरत्वपनेसे दिगम्बरीयों को यह लाभ हुवा।

कांजीस्वामी एक तरफ तो यह कहते हैं कि शरीराश्रित क्रिया से अथवा निमित्त और व्यवहार से कुछ भी लाभ नहीं होता। दूसरी तरफ इन क्रियाओं से शुभ बन्ध होना बताते हैं इसलिये शुभबन्ध को संसारका कारण बताकर इसको छुड़वाते हैं तो क्या लाभ नहीं होने के मायने यह हैं कि दान पूजादि करनेसे कर्मबन्ध होता है किंतु इनसे कर्मोंकी निर्जरा नहीं होती इसीलिये इनसे कुछ भी लाभ नहीं होता ऐसा कहा गया है? यदि ऐसा हो तो वे खुद शुभ बन्धका कारण पूजा प्रतिष्ठा मन्दिर बनवाना किसलिये करते हैं? समझ बूझकर संसार में क्यों डूबते हैं इन क्रियाओंको मिथ्यात्व बताना और इन क्रियाओंको खुद करना यह कहांकी बुद्धिमानी है वास्तव में जानबूझ कर कूवे में पडना तो मूर्खोंका काम हैं ज्ञानी होकर ऐसा कार्य करे यह बडा आश्चर्य है।

यदि दान पूजादि यात्रासे शरीराश्रित क्रियाओंसे कुछ भी लाभ नही होता है तो इनसे शुभ बन्ध होता है ऐसा किस लिये कहा गया यह स्ववचन बाधित होने से अप्रमाणभूत है

यदि शरीराश्रित दान पूजा यात्रादि क्रियाओंसे शुभबन्ध होता है तो शरीराश्रित इनसे प्रतिकूल क्रियाओंसे अशुभबन्ध भी होता है यह मानना पडेगा। तथा यह भी स्वीकार करना

पडेगा कि शरीराश्रित महाव्रतादि क्रियाओंसे लाभ व्रतादि संवर और निर्जरा होकर मोक्ष भी मिलता है "तपसा निर्जरा च" ऐसा आगमका वचन है। अतः तपका लक्षण 'इच्छा निरोधस्तपः यह लक्षण महाव्रतादि मूलगुणों में घटित होता है। जहां सम्पूर्ण परिग्रह का त्याग होता है वहां सम्पूर्ण इच्छाका निरोध स्वतः सिद्ध है क्यों कि इच्छाके निरोध विना परिग्रहका त्याग होता नही इसलिये शरीराश्रित कियाओंसे वन्ध का अभावभी होता है। जैसा लोंह की वेडी लोह की छेनीसे ही कटतीं हैं उसीप्रकार जिस शरीराश्रित क्रियाओंसे वन्ध होता है उस शरीराश्रित क्रियाओंके प्रतिकूल क्रियाओंसे वन्धका अभाव भी होता है ऐसा मानना आगम और युक्तिसे सुसिद्ध है। अतः दिगम्बर धर्मके प्रतिकूल प्रतिपादन करनेवाले और दिगम्बर भेषके प्रतिकूल भेषके धारण करनेवाले यदि दिगम्बर आम-नायका मन्दिर बनावें उसीके अनुसार प्रतिष्ठा करावें तो भी वे दिगम्बरी और सम्यक्त्वी कदापि नहीं हो सकते है। क्यों कि दिगम्बर धर्मके प्रतिकूल आचरण करने वालोंमें सम्यक्-त्वका अभाव है ऐसा ऊपरमें पहिले सिद्ध कीया जा चुका है। उसके अनुसार जवतक कांजी अपना भेष दिगम्बर आमनायके अनुकूल-अपने पदके माफिक न वना लेवें और दिगम्बर धर्ममें दीक्षित होकर दिगम्बर धर्मके अनुसार अपनी प्रवृत्ति न वना लेवे एवं चारू अनुयोगों को प्रमाणभूत न समझलें तवतक वे कदापि सम्यक्त्वी नहीं कहला सकते हैं।

पवीत धारण कर लिया है। जिसके मूल कहिये जड ही नहीं वह वृक्ष कैसा इसीप्रकार जिस श्रावकके जड स्वरूप मूलगुण ही नहीं वह श्रावक कैसा इसलिये श्रावकके मूलगुण पहिले होना ही चाहिये इसके विना न कोई श्रावक कहलानेका पात्र है और न श्रावक हुये विना दान पूजा करनेका अधिकारी है तथा न जिनधर्मकी देशना श्रवण करने का ही अधिकारी है। जिनधर्म की देशना देने का अधिकार प्राप्त करना तो बहुत दूरकी बात है। देशना देनेका अधिकारी तो वही होसकता है जिसने चारु अनुयोगोंके विषयको अच्छी तरह समझ लिया है पुरुषार्थ सिद्ध्युपायमें अमृतचन्द्र सूरिने स्पष्ट रूपसे बतला दिया है कि अष्ट मूलगुण धारण करके जो यज्ञोपवीत धारण कर लेता है वही जिनधर्मकी देशना सुननेका पात्र समझा जाता है—

"अष्टावनिष्टदुस्तरदुरितायतनान्यमूनि परिवर्ज्य।
जिनधर्मदेशनाया भवन्ति पात्राणि शुद्धाधियः" ।७४

अर्थात् दुःखदायक दुस्तर और पापोंके स्थान इन आठ पदार्थोंको परित्याग करके निर्मल बुद्धि वाले पुरुष जिनधर्मके उपदेशक योग्य पात्र होते हैं। ऐसा ही पं० आशाधरजी ने सागारधर्मामृत में कहा है—

"यावज्जीवमिति त्यक्त्वा महापापानि शुद्धधीः।
जिनधर्मश्रुतयोग्यः स्यात्कृतोपनयो द्विजः" ॥१६॥

अर्थात् ब्राह्मण, क्षत्रिय, और वैश्य, ये तीनों वर्ण द्विज

कहलाते हैं क्योंकि शास्त्रोंमें लिखा है "त्रयो वर्णा द्विजातयः" तीनों वर्ण द्विज हैं अर्थात् इनका एक माताके गर्भसे जन्म दूसरा संस्कारोंद्वारा जन्म इस प्रकार दो जन्म होनेसे ये द्विज कहलाते हैं और ये द्विज ही पंच उदम्बर तीन मकारका त्यागकरके यज्ञोपवीत धारण करने पर जिनधर्मकी देशना सुननेके योग्य पात्र माने गये हैं इसप्रकार और भी अनेकशास्त्रोंमें बताया है।

"यावज्जीवमिति त्यक्त्वा पंचोदम्बरपूर्वकान्।
जिनधर्मश्रुतेर्ग्राह्यः स्यात्कृतोपनयो द्विजः" ॥

सारांश यह है कि अष्ट मूलगुणधारी ही जिनधर्मकी देशना सुनने का अधिकारी है। जिस श्रावक ने अष्टमूल धारण किया है उसके इस व्रतकी पहिचान स्वरूप यज्ञोपवीतका चिन्ह अवश्य होगा क्योंकि यज्ञोपवीत संस्कारके समय ही अष्टमूल धारण कराया जाता है। क्या कांजी स्वामी अष्टमूलगुणके धारी हैं? यदि हैं तो यह व्रत किस गुरुके पास लिया है यह बता सकते हैं? और इसव्रतके चिन्ह स्वरूप कटिसूत्र, यज्ञोपवीत, और शिरोलिंग, उनके हैं? यदि नहीं है तो वह श्रावक कैसे? क्योंकि श्रावकके अष्टमूलगुण धारण के समय उस मूलगुण के चिन्ह स्वरूप यज्ञोपवीत होता ही है। यदि उनने इस व्रत को स्वयं धारण किया है किसी दूसरके पास इस व्रतको ग्रहण नहीं किया है तो ऐसा जिनागम का कायदा नहीं है, जिसमें विधर्मीके लिये तो यह खास बात है कि वे धर्माचार्य के पास या गृहस्था-

यहां पर कोई कांजीका भक्त यह तर्क करे कि अन्यभेषको धारण करते हुये जिस प्रकार आचार्य समंत भद्रस्वामी सम्यक्त्वी बने हुये थे उसी प्रकार अन्य भेषको धारण करते हुये कांजी स्वामी सम्यक्त्वी क्यों नहीं कहला सकते हैं। इस तर्कनाका समाधान यह है कि आचार्य समंतभद्रस्वामीने तो गुरु आज्ञासे समाधी न धारण करके अपनी भस्मव्याधी रोगको प्रशांत करनेके लिये कपट रूप भेप धारण किया था जिस प्रकार नाट्यकार नर्तकका कपट रूप भेप धारण कर नृत्य करता है उसी प्रकार समंतभद्रस्वामीने कपट रूप भेप धारण किया था इस कारण उनका सम्यक्त्व नष्ट नहीं हुआ किन्तु जो स्वइच्छा से विना कारण अन्यभेपको धारण किये हुये रहै और सम्यक्त्वी कहलावे यह बात नहीं वनती क्योंकि कांजी स्वामी ने विधर्मको छोडकर दिगम्बर जैनधर्म धारण किया है और वे अपने को दिगम्बरी डंकेकी चोट वताते हैं फिर उनको पूर्व भेप में रहने की आवश्यकता क्या? जो अन्य धर्मसे कुछ लेना हो तो वैसा भेप धारण करे। ऐसा किये विना उनको वह जिन्स मिलती नहीं इस कारण अन्य भेप धारण करना पडता है जैसा कि अकलंक देवने वौध भेप धारण कर वौध बनकर वौध धर्म का अवगाहन किया था अन्यथा वे जैन कहला कर वौध धर्म नहीं देख पाते इसलिये मतलव सिद्ध करनेके अभिप्रायसे कपट रूप भेप धारण करनेसे सम्यक्त्व नष्ट नहीं होता किन्तु कुत्सित भेपमें दिगम्बरी कहलावे यह बात न्याय संगत नहीं है इस

कारण उसके सम्यक्त्व नहीं रह सकता। यदि कांजी स्वामी ने दिगम्बर धर्मको कल्यानकारी समझकर दिगम्बर धर्म धारण किया है तो बाह्य भेष अकल्यानकारी किसलिये धारण कर रक्खा है। यदि वे श्वेताम्बर धर्मको ही अभी तक ठीक मान रहे हैं इसलिये पूर्व भेषको तब तक नहीं छोडना चाहते जब तक कि दिगम्बर धर्मको अच्छी तरह कल्यानकारी न समझले अतः यह दोनूं अवस्था ही सम्यक्त्वीपनेकी नहीं है।

विधर्मी यदि कोई जैनधर्म धारण करे तो उसके लिये जैनागम यह कहता है कि प्रथम वे अपने धर्मका त्याग करें और उसके बाद धर्माचार्यके पास या गृहस्थाचार्यके पास जाकर देव, शास्त्र, गुरु, और पंच तथा अग्नि इनके समक्ष यथायोग्य अपनी शक्तिके अनुसार जिनधर्मको धारण करें, तब ही सच्चा जैन कहला सकता है अन्यथा नाम मात्र, जैनागमकी आज्ञा है।

"द्विजातो हि द्विजन्मेष्टः क्रियातो गर्भतश्च यः।
क्रियामंत्रविहीनस्तु केवलं नामधारकः॥"

आदिपुराण जी

अर्थात् मोक्षमार्गका अधिकार द्विजन्माको ही है अन्यको नहीं है जिसका गर्भ और जन्म संस्कारोंके मंत्र क्रियापूर्वक हुआ है वही द्विजन्मा है जो संस्कारों की क्रिया और मंत्र रहित है वह नाम मात्रका जैन है। जैनी वही कहला सकता है जिसने कमसे कम अष्टमूल गुण धारणकर उसव्रतके चिन्हस्वरूप यज्ञो-

पवीत धारण कर लिया है। जिसके मूल कहिये जड ही नहीं वह वृक्ष कैसा इसीप्रकार जिस श्रावकके जड स्वरूप मूलगुण ही नहीं वह श्रावक कैसा इसलिये श्रावकके मूलगुण पहिले होना ही चाहिये इसके विना न कोई श्रावक कहलानेका पात्र है और न श्रावक हुये विना दान पूजा करनेका अधिकारी है तथा न जिनधर्मकी देशना श्रवण करने का ही अधिकारी है। जिनधर्म की देशना देने का अधिकार प्राप्त करना तो वहुत दूरकी वात है। देशना देनेका अधिकारी तो वही होसकता है जिसने चारू अनुयोगोंके विषयको अच्छी तरह समझ लिया है पुरुषार्थ सिद्धयु पायमें अमृतचन्द्र सूरिने स्पष्ट रूपसे बतला दिया है कि अष्ट मूलगुण धारण करके जो यज्ञोपवीत धारण कर लेता है वही जिनधर्मकी देशना सुननेका पात्र समझा जाता है—

"अष्टावनिष्टदुस्तरदुरितायतनान्यमूनि परिवर्ज्य ।
जिनधर्मदेशनाया भवन्ति पात्राणि शुद्धाधियः" ।७४

अर्थात् दुःखदायक दुस्तर और पापोंके स्थान इन आठ पदार्थोंको परित्याग करके निर्मल बुद्धि वाले पुरुष जिनधर्मके उपदेशक योग्य पात्र होते है। ऐसा ही पं० आशाधरजी ने सागारधर्मामृत में कहा है—

"यावज्जीवमिति त्यक्त्वा महापापानि शुद्धधीः ।
जिनधर्मश्रुतयोग्यः स्यात्कृतोपनयो द्विजः" ॥१६॥

अर्थात् ब्राह्मण, क्षत्रिय, और वैश्य, ये तीनों वर्ण द्विज

कहलाते हैं क्योंकि शास्त्रोंमें लिखा है "त्रयो वर्णा द्विजातयः" तीनों वर्ण द्विज हैं अर्थात् इनका एक माताके गर्भसे जन्म दूसरा संस्कारोंद्वारा जन्म इस प्रकार दो जन्म होनेसे ये द्विज कहलाते हैं और ये द्विज ही पंच उदम्बर तीन मकारका त्यागकरके यज्ञोपवीत धारण करने पर जिनधर्मकी देशना सुननेके योग्य पात्र माने गये हैं इसप्रकार और भी अनेकशास्त्रोंमें बताया है।

"यावज्जीवमिति त्यक्त्वा पंचोदम्बरपूर्वकान् ।
जिनधर्मश्रुतेर्ग्राह्यः स्यात्कृतोपनयो द्विजः" ॥

सारांश यह है कि अष्ट मूलगुणधारी ही जिनधर्मकी देशना सुनने का अधिकारी है। जिस श्रावक ने अष्टमूल धारण किया है उसके इस व्रतकी पहिचान स्वरूप यज्ञोपवीतका चिन्ह अवश्य होगा क्योंकि यज्ञोपवीत संस्कारके समय ही अष्टमूल धारण कराया जाता है। क्या कांजी स्वामी अष्टमूलगुणके धारी हैं? यदि है तो यह व्रत किस गुरुके पास लिया है यह बता सकते हैं? और इसव्रतके चिन्ह स्वरूप कटिसूत्र, यज्ञोपवीत, और शिरोलिंग, उनके हैं? यदि नहीं है तो वह श्रावक कैसे? क्योंकि श्रावकके अष्टमूलगुण धारण के समय उस मूलगुण के चिन्ह स्वरूप यज्ञोपवीत होता ही है। यदि उनने इस व्रत को स्वयं धारण किया है किसी दूसरके पास इस व्रतको ग्रहण नहीं किया हैं तो ऐसा जिनागम का कायदा नहीं है, जिसमें विधर्मीके लिये तो यह खास बात है कि वे धर्माचार्य के पास या गृहस्था-

चार्यके पासमें जिन धर्म धारण करे ऐसा स्पष्ट रूपसे आदि पुराण में दीक्षान्वय क्रियाके अंतरगत कहा है।

"अवतारो व्रतलाभः स्थानलाभो गणग्रहः।
पूजाराध्यपुण्ययज्ञौ दृढचर्योपयोगिता ॥

अर्थात् जो मिथ्याधर्मी द्विज (ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य) जिन धर्म धारण करता है उसको गुरुके बताये हुए यह आठ संस्कार करने पडते हैं अवतार, व्रतलाभ, स्थानलाभ, गणग्रह, पूजाराध्य, पुण्ययज्ञ, दृढचर्या, और उपयोगिता, ये आठ क्रियाये हैं इनमेंसे प्रत्येकका लक्षण इस प्रकार है। दिगम्बर मुनि या धर्मनिष्ठ विद्वान गृहस्थाचार्य इनमेंसे किसी एकके मुखसे उत्तम उपदेश को सुनकर मिथ्या धर्म को छोड अरहंत देवके कहे हुये तत्त्वोंके श्रद्धान करनेको अवतार क्रिया कहते हैं। इसका दूसरा नाम "धर्मलाभ क्रिया भी है" क्योंकि "गुरुर्जन्मयिता तत्त्वज्ञानं गर्भः सुसंस्कृतः। तथा तत्रावतीर्णो ऽसौ भव्यात्मा धर्मजन्मना।" अर्थात् गुरु ही पिता है और उससे उत्पन्न हुआ तत्त्वज्ञान उत्तम संस्कार सहित एक गर्भ है उस ज्ञान गर्भसे यह भव्यात्मा धर्म स्वीकार रूप अवतार लेता है इसलिये इस अवतारको धर्मजन्म कहते हैं। अभिप्राय यह है कि जब यह जीव एक शरीर को छोडकर दूसरे शरीरको धारण करता है तब वह उसका शरीर जन्म कहलाता है। इसी तरह यह जीव जब

मिथ्यात्व धर्मको छोडकर सम्यक् धर्मको स्वीकार करता है तब वह उसका धर्म जन्म कहना ही चाहिये ।

"ततोऽस्य व्रतलाभः स्यात्तदेव गुरुपादयोः ।
प्रणतस्य व्रतव्रातं विधानेनोपसेदुषः" ॥

अर्थात् जिस समय इस भव्यके गुरुके उपदेशसे सम्यक्त्व प्रगट होता है उसी समय यदि वह गुरुके चरण कमलोंको नमस्कार कर विधिपूर्वक आठ मूलगुण आदि व्रत धारण करें तब उसकी वह व्रतलाभक्रिया कही जाती है ।

"ततः कृतोपवासस्य पूजाविधिपुरस्सरं ।
स्थानलाभो भवेदस्य तत्रायमुचितो विधिः ॥

भावार्थ-व्रत लाभके पीछे जिनेन्द्रदेवकी पूजा कर उपवासादि करनेको स्थानलाभ कहते हैं गुरु उसको कहते हैं कि मैं तुझे यह उपासक दीक्षा देता हूँ ऐसा कहता हुवा उसके मस्तकको वारवार स्पर्श करे । इस प्रकार पंचमुष्टि करे अर्थात् पांचवार उसके मस्तकको स्पर्श करे, फिर तू पवित्र है अब उपासक दीक्षा ग्रहण कर इस प्रकार कहकर उसके मस्तक पर तीर्थोदक छिडके उसके वाद यह मंत्र तुझे समस्त पापोंका नाश कर पवित्र करेगा ऐसा कहकर उस शिष्यको पंचनमस्कार मंत्र का उपदेश दे इस प्रकारकी विधि करके उसे पारणा करनेके लिये आज्ञा देवें, इस प्रकार वडा हर्ष मान कर घर जावे । इसको स्थान लाभ कहते हैं ।

"जिनार्च्याभिमुखं सूरिर्विधिनैनं निवेशयेत् ।
तवोपासकदीक्षेयमिति मूर्ध्नि मुहुः स्पृशन् ॥
पंचमुष्टिविधानेन स्पृष्ट्वैनमधिमस्तकं ।
पूतोसि दीक्षयेत्युक्त्वा सिद्धशेषां च लंभयेत् ॥
ततः पंचनमस्कारं प्रदायास्मायुपादिशेत् ।
मंत्रोयमखिलात्पापात्त्वां पुनीतादितीरयन् ॥
कृत्वा विधिमिमं पश्चात्पारणाय विसर्जयेत् ।
गुरोरनुग्रहात्सोपि संप्रीतः स्वगृहं व्रजेत् ॥"

घर जाने पर—

"इयंतं कालमज्ञानात्पूजिताः स्थ कृतादरं ।
पूज्यास्त्विदानीमस्माभिरस्मत्समयदेवताः ॥
ततोपमृषितेनालमन्यत्र स्वैरमास्यतां ।
इति प्रकाशमेवैतान्नीत्वान्यत्र क्वचित्त्यजेत् ॥
गणग्रहः स एषः स्यात्प्राक्तनं देवतागणं ।
विसृज्यार्चयतः शांता देवताः समयोचिताः ॥

अर्थात् मिथ्यादेवताओंको उपदेश कर कहै कि आजतक मैंने अपने अज्ञानसे तुम्हारा बडा आदर सत्कार किया अब मुझपर क्रोध न करके अपनी इच्छानुसार कहीं दूसरी जगह चले जाइये। इस प्रकार कहकर उस मिथ्यादेवताकी मूर्तिको

बाहर कहीं भी जाकर रखदे इस प्रकार पहिलेके मिथ्यादेवताओं को छोडकर जिनधर्ममें मान्य ऐसे शांत देवतावोंकी पूजा किया करे इसको गणग्रह क्रिया कहते हैं।

"पूज्याराध्याख्यथा ख्याता क्रियास्य स्यादतः परा।
पूजोपवाससंपत्याशृण्वतोऽगार्थसंग्रहं ॥

भावार्थ—तदनंतर पूजा और उपवास करके द्वादशांगका अर्थग्रहण करना इसको पूजाराध्यक्रिया कहते हैं।

"ततोन्या पुण्ययज्ञाख्या क्रिया पुण्यानुवंधिनी।
शृण्वतः पूर्वविद्यानामर्थं सब्रह्मचारिणः ॥"

अर्थ—उसके वाद गुरुके मुखसे अपने सहधर्मियोंके साथ साथ पूर्व विद्या अर्थात् चौदह पूर्वोका अर्थ सुनना सो पुण्य वन्ध करनेवाली पुण्ययज्ञ क्रिया है।

"तदास्य दृढचर्याख्या क्रिया स्वसमयश्रुतं।
निष्ठाप्यं शृण्वतो ग्रंथान् वाह्यानन्यांश्च कांश्चन ॥

अर्थात्—अपने धर्मशास्त्र अच्छी तरह पढ़कर अन्यमतके दर्शन आदि लौकिक ग्रंथोंका अभ्यास करनेको दृढचर्या क्रिया कहते हैं।

"दृढव्रतस्य तस्यान्या क्रिया स्यादुपयोगिता।
पर्वोपवासपर्यंते प्रतिमायोगधारणं ॥"

अर्थात्—जिसके व्रतदृढ हो चुका है ऐसा भव्यजीव प्रत्येक अष्टमी चतुर्दशीके पर्वोंमें उपवास करके रात्रिमें प्रतिमायोग धारण करता है उसे उपयोगिता क्रिया कहते हैं।

इसी प्रकार सागारधर्मामृतमें भी स्व. पं आशाधरजी ने बताया है—

अर्थात्—मिथ्याधर्म छोडकर जैनधर्म धारण करने वालेको यह आठ संस्कार गुरुके निकट करने पडते हैं। धर्माचार्य अथवा गृहस्थाचार्यके उत्तम उपदेशसे जीवादि तत्त्वोंका निश्चय करता है श्रद्धान करता है यह अवतार क्रिया है। फिर मूलगुण अणुव्रतादि देशव्रत धारण करता है इसे व्रतलाभ क्रिया कहते हैं। तदनंतर श्रावककी दीक्षा धारणकर गुरुके मुखसे अपराजितमंत्रको स्वीकार करता है, इसको स्थान लाभ क्रिया कहते हैं। फिर कुदेवोंका त्याग करता है इसे गणग्रह क्रिया कहते हैं। इसके बाद ग्यारे अंगादि सूत्रोंको पढता है इसे पूजाराध्यक्रिया कहते हैं इसके पश्चात् वह न्याय अलंकार व्याकरण गणितादि बुद्ध मीमांसादि दर्शनशास्त्रोंको पढता है इसका नाम दृढचर्या है। तदनंतर वह प्रत्येक अष्टमी चतुर्दशीको उपवासकर रात्रीमें प्रतिमायोग धारण करनेका अभ्यास करता है इसका नाम उपयोगिता क्रिया है। इस प्रकार आठों संस्कार कर वह धन्य और पुण्यवान पुरुष द्रव्य और भाव दोनों प्रकारसे पापोंको नष्ट करता है। अभिप्राय यह है कि विधर्मीको इन संस्कार वा

क्रियाओंके किये विना वह जैनधर्म पालन करनेके योग्य पात्र नहीं गिना जाता। जैनधर्म धारण करनेके बाद वह देवता समान होता है।

"जातिः सैव कुलं तच्च सोसि योसि प्रगेतनः।
तथापि देवतात्मानमात्मानं मन्यते भवान् ॥११०॥
तत्रार्हती त्रिधाभिन्नां शक्तिंत्रैगुण्यसंश्रिताम्।
स्वसात्कृत्य समुद्भूता वयं संस्कारजन्मना ।१११

आदि पुराणजी

भावार्थ—मेरी वही पवित्र जाति, वही पवित्र कुल था, और मैं पहिले जैसा विशुद्ध पिंडवाला था वही हूं परन्तु अबतक मेरे जैनागमकी आज्ञानुसार संस्कार नहीं हुये थे इसलिये मैं पूर्वोक्त रूप बना रहा अब मैंने अरहंत भगवानकी आज्ञानुसार संस्कार स्वीकार किये है इसलिये अब आप मुझे देवता समझने लगे हैं। सचमुचमें इस समय जैन संस्कारोंको धारणकर देवता होगया हूँ। यह द्रव्य दृष्टिसे ऐसा कहा गया है जैसाकि समयसारमें सम्यक् दृष्टिको जिनेश्वरका लघु भैया बताया है।

इसके आगे और भी बतलाया है कि स्वयंभू (श्रीऋषभदेव) भगवानके मुखसे हमने यह व्रतके स्वरूपको प्रगट करने वाला (व्रतका चिन्ह) पवित्र यज्ञोपवीत धारण किया हैं इसलिये हम द्विजोंमें देवके समान पूज्य होगये हैं।

"स्वायंभुवान्मुखाज्जातास्ततो देवद्विजा वयं ।
व्रतचिन्हं च सूत्रं च पवित्रं सूत्रदर्शितम् ॥११७॥

यहां इतना कहनेका तात्पर्य यह कि कांजी यदि दिगम्बर में स्वामी कहलाने का हकदार बनना चाहते हैं तो तुरंत अपने पूर्व भेषको छोडकर किसी योग्य गुरुसे दिगम्बर जैन धर्म के व्रतोंको धारणकर व्रतके चिन्ह स्वरूप यज्ञोपवीत धारण करें अन्यथा जबतक ऐसा आप नहीं करेंगे तबतक आपको दिगम्बर धर्ममें कोईभी स्वामी नहीं कहेंगे चाहे विना समझे भोले जीव आपको दिगम्बर धर्मानुयायि मानकर स्वामी परमदेव माने और आपके बताये हुये मार्गमें चलकर दिगम्बर धर्मकी मान्यता को भी खो बैठे परन्तु सच्चा दिगम्बरी जैनी जो जैनधर्मके मर्मको समझते हैं ऐसे मर्यादित पुरुष तो आपको स्वामी छोड दिगम्बरी भी नहीं मानेंगे क्योंकि आपकी मान्यता सर्वथा दिगम्बर आमनायके प्रतिकूल है ।

प्रथम तो अन्यभेषमें भी सम्यक्त्वका सद्भाव मानना तथा बाह्यभेष सम्यक्त्व होने में बाधक कारण नहीं है ऐसा समझना जैनागमके प्रतिकूल है । अतः यह समझ कांजी की अवश्य है इसलिये ही पूर्वभेषको लिये हुये भी वे अपने को दिगम्बरी घोषित करते हैं यदि यह समझ उनकी नहीं होती तो वे अपना भेष अपने पदस्थके अनुसार अवश्य जैनागमके अनुकूल बनालेते इसलिये स्वीकार करना होगा कि धारणामें यह बात अच्छीतरह

जमी हुई है कि सम्यक्त्व प्राप्तिमें और दिगम्बरी जैन कहलानेमें भेष कोई बाधक कारण नहीं है।

जब अन्य भेषमें सम्यक्त्व की प्राप्ति हो सकती है, बाह्यभेष कैसाही क्यों न हो भेष सम्यक्त्वका बाधक नहीं है। यदि थोडी देरके लिये ऐसाही मान लीया जाय तब अन्य भेषसे मुक्ति भी हो सकती है ऐसा मानना पडेगा क्यों कि सम्यक्त्व के साथ ही सम्यग्ज्ञान और स्वरूपाचरण चारित्र की प्राप्ति हो जाती है अर्थात् सम्यकदर्शन, ज्ञान, चारित्र इन तीनों की एक साथ उत्पत्ति है और ये तीनों एक साथही रहते है अलग अलग नहीं रहते इसमें इतनी बात जरूर है कि इन तीनों की एक साथ उत्पत्ति होने परभी तीनों की पूर्णता क्रमसे होती है।

जब इन तीनों की उत्पत्ति में बाह्य भेष चाहे जैसा हो भेष उत्पत्तिमें बाधक कारण नहीं है तब वह बाह्यभेष इनकी पूर्णता में बाधक कैसे हो सकता है? अर्थात् नही हो सकता है। जो उत्पत्ति का साधक है वह वृद्धि का बाधक नही हो सकता है साधक हर समय साधकही रहता है ऐसा न्याय है। जैसे संतानोत्पत्तिमें माता पिता साधक है वह माता पिता अपनी संतान की वृद्धिमें साधक ही रहेगा बाधक नहीं बनेगा। उसीप्रकार अन्य भेषमें जब रत्नत्रयकी उत्पत्ति हो सकती है तब अन्य भेष उस रत्नत्रयकी वृद्धि में साधक ही रहेगा बाधक कभी नहीं बन सकता सारांश यह है कि कांजीके सिद्धांतसे सवस्त्र मुक्ति स्वतः सिद्ध है

जब वे रत्नत्रयकी उत्पत्तिमें मिथ्यामतीका भेष बाधक कारण नहीं मानते तब इस मान्यताके अनुसार मिथ्यामती के भेषमें मुक्ति स्वतः सिद्ध है। अतः यह मान्यता जैनागमके सर्वथा प्रतिकूल क्यों नही है?

यहां भेषसे मतलब साधु भेषसे है जो अन्य मतियोंके साधु भेष धारण करते हैं और वह उस भेषको मुक्तिका कारण मानते हैं। गृहस्थों के भेष नानारूप देशभेदसे जातीभेदसे अवस्थाभेदसे होते हैं परन्तु साधुओंका भेष सब जगह एकसाही होता है जैसे दिगम्बर साधु सब देश व सब जातीमें अठाईस मूलगुणके धारी ही होते हैं तैसे सब धर्म वालोंके साधुभी सर्वदेश सर्वकाल सर्व जातीमें एकसेही होते हैं इसलिये भेषसे हमारा मतलब साधुभेष से है और वह अन्य साधुभेष न सम्यकत्वोत्पत्ति का कारण हैं और न मुक्ति का कारण है तो भी जो अन्य लिंगमें सम्यक्त्वोत्पत्तिका सद्भाव मानते हैं वह जैनागमसे सर्वथा अनभिज्ञ हैं। समवशरणमें मिथ्यादृष्टीका तथा पाखण्डियों का प्रवेश नहीं हैं यदि पाखण्ड भेषमें सम्यक्त्वका सद्भाव मानलिया जायगा तो पाखण्डियों का भी समवशरणमें प्रवेश स्वीकार करना पडेगा क्योंकि सम्यग्दृष्टियों के लिये समवशरणमें जानेकी मनाई नहीं हैं। मनाई हैं मिथ्या दृष्टियोंके लिये अतः मिथ्याभेषमें सम्यकत्व नही रहता यह बात सप्रमाण सिद्ध है।

भव्यकूटाख्ययास्तूपा भास्वत्कूटास्तथाऽपरे
यानभव्या न पश्यन्ति प्रभावान्धीकृतेक्षणाः
प्रदिक्षणेन वन्दित्वा मानस्थम्भाननादितः
उत्तमाः प्रविशन्त्यन्तरुत्त माहितभक्तयः
पापशीला विकर्माणः शूद्राः पाखण्डषण्ढकाः
विकलांगेन्द्रिया भ्रांताः पर्यटन्ति बहिस्ततम्
तत्र दौवारिका भौमाः कटकादिविभूषणाः
प्रभावोत्सारितायोग्यमुद्गरोद्धतपाणयः

इन प्रमाणों से यह भलीभांति सिद्ध हो जाता है कि समवशरणमें शूद्र, अभव्य, पापी, निन्द्यकर्मी, पाखण्डी, नपुंसक विकलांगी, भ्रांतचित्तवाले नहीं जा सकते क्योंकि इनमें समवशरणमें जानेकी योग्यता ही नही है। समवशरणमें उत्तम त्रिवर्ण वाले ही जाते हैं जो जिनलिंगी होते भगवानके भक्त मानस्थम्भ की प्रदक्षिणा देकर वन्दना करके ही जाते हैं ऐसा कायदा है। इसके अतिरिक्त शूद्रादि यदि कोई जबरन समवशरणमें घुसना चाहता है तो उनको द्वारपाल देव मुद्गरों से ताडित करके भगा देते हैं यह जैनागमका सिद्धांत है इस सिद्धांत के अनुसार कुभेषी समवशरणमें नहीं जा सकता क्यों कि कुलिंगमें सम्यक्त्व का अभाव है। त्रैवर्णिक सम्यग्दृष्टि के लिये समवशरण में जानेकी मनाई नहीं है।

कांजीस्वमी के सिद्धांत से सवस्त्र मुक्ति भी सिद्ध हो जाती है उनका कहना है कि पहले भाव होते हैं, पीछे तद्रूप क्रिया होती है अर्थात् छठे गुणस्थानका भाव ही मुनि क्रिया कराता है। गृहस्थाश्रममें श्रावक के मुनिव्रत धारण करने के भाव होते ही पहिले सातवां गुणस्थान हो जाता है उसके बाद उसके जब छठे गुणस्थान का भाव होता है तब छठे गुणस्थानकी क्रिया वस्त्रत्याग केशलुंचन, कमण्डलु—पिच्छिकादिका ग्रहण करता है।

यह बात जैनागमसे सर्वथा प्रतिकूल है, जैनागममें मुनिव्रत धारण करतेही पहिले सातवे गुणस्थानके भाव होते हैं उसके बाद उसके छठे गुणस्थानके भाव होते है ऐसा बताया है इसका मतलब यह नहीं है कि वस्त्रत्याग केशलुंचादि क्रिया किये विना ही गृहस्थाश्रममें मुनि होने की भावना होतेही पहिले सातवां गुणस्थानहो जाता है।

यदि ऐसा होना हम मानले तो हमारेमें और श्वेताम्बरोंमें अंतर ही क्या रहजायगा। जब सवस्त्रके सातवां और छठा गुणस्था॰ हो जायगा तब सवस्त्रके तेरहवा और चौदहवां गुणस्थान क्यों नहीं हो सकेगा, जैसा कि श्वेतांबरी मानते हैं। मरुदेवी माताको हाथी चढी को केवल ज्ञान हुवा उसके बाद उसने आर्यका की दीक्षा ग्रहण की, एक दासी को उपाश्रयमें वुहारी देतीको केवल ज्ञान होगया उसके बाद उसने आर्यकाके व्रत धारण कीये। एक शिष्य गुरू को कन्धे पर विठलाकर जा रहा था रास्ते में शिष्य को केवलज्ञान प्राप्त हो गया इत्यादि उनके ग्रंथोमें अनेक

ऐसे उदाहरण मिलते हैं जिससे सवस्त्र मुक्ति की सिद्धि हो जाती है।

इसलिये मुनिव्रत धारण करने की भावना होतेही श्रावकके पहिले सातवे और छठे गुणस्थान के भाव हो जाते है उसके बाद उसके वस्त्र त्यागादि क्रियायें होती है यह मान्यता दिगम्बर आमनायके सर्वथा प्रतिकूल है दिगम्बर संप्रदायमें तो द्रव्यलिंग के विना भावलिंग होता ही नहीं ऐसा नियम है मुनिव्रतधारण करनेवाले श्रावक के वस्त्रत्याग केशलुंचनादि क्रिया होने के बादही जब वह समझता है कि मै मुनि बनगया और मेरे बाह्या-भ्यंतर सर्व परिग्रहका त्याग हो चुका अब मैं एकदम परिग्रहके भारसे मुक्त होगया अब मेरे उनसे कुछ भी प्रयोजन नहीं हैं इत्यादि जब वह चिंतन करने लगता है तब उसके पहिले सातवे गुणस्थान के भाव होते है उसके बाद जब वह गुरुवन्दनादि क्रिया करने को उत्सुक होता है तब उसके छठे गुणस्थान का भाव बन जाता है। इसके विपरीत जो श्रद्धान है वह मिथ्या श्रद्धान है।

यहां पर कोई यह शंका करे कि विना भाव के क्रिया कैसी? हर एक काम करने के भाव होते हैं उसके बाद उस काम करने की क्रिया होती है ऐसा नियम है अतः विना भावके क्रिया केवल पागलों की होती हैं। इसलिये कांजीस्वामी का सिद्धांत ठीक है पहिले छठे सातवे गुणस्थानके भाव होनेपर ही उसके बाद उस

गुणस्थान संबन्धी क्रिया होती हैं क्योंकि विना ध्येय के केवल क्रिया पागलों की होती है। या केवलीयों की इस शंका का समाधान यह है कि विना ध्येयके कोई क्रिया नही होती जैसे किसी के मंदिर जानेका भाव है किसी के शास्त्र श्रवण करने के भाव है तो किसी के गुरु सेवा करने के भाव है इत्यादि जैसा जैसा जिसका भाव हैं वैसा वह अपने भावों के अनुकूल कार्य करेंगे यहां तक तो ठीक है परन्तु इतने से परिणामों की विशुद्धि नहीं होती परणामों की विशुद्धि उस कार्य करने परही होती हैं। जैसे किसी के मंदिर जानेके और भगवानके दर्शन करनेके भाव हुये और वे अपने भावों के अनुसार कार्य भी कीया लेकिन मंदिर जाकर भगवान का दर्शन करूंगा इस भावनारूप परि-णामों की जातीमें और भगवान का दर्शन करते समय उनके गुणानुवाद करते समयके परिणामों में जमीं आसमानका फरक रहता है इसलिये आचार्य कहते हैं कि–

"जव चिंते तव सहस्र फल लक्खा गमन करेय।
कोड़ा कोड़ि अनन्त फल जब जिनवर दिट्ठेय" ॥

अर्थात् "दर्शन चिंते कोटिफल चलते कोडाकोडि। कोड़ा-कोडि कोड़ पथ, फल अनन्त प्रभु ओरि" अतः दर्शन करनेकी भावना मात्रसेही अनन्तफल हो जाता तो फिर दर्शन करनेकी जरूरत भी नही रहती गुरुसेवा करनेकी भावनासे ही गुरुसेवा करनेका फल प्राप्त हो जाता तो गुरुसेवा करनेके लिये उनके

मुनि होनेके भाव हुये पर यह भाव साधारण इच्छा रूप भाव है आकुलतामय भाव है जबतक वह मुनि नहीं बन जाता तबतक उसके मनमें कुटुम्ब छोडने सम्बन्धी और अपने धनधान्यादिक परिग्रहोंकी व्यवस्थामें समुद्रकी लहरोंके समान चंचलता रहती है परिणामोंमें शांति नहीं आती इसलिये यह परिणाम पांचवे व चोथे गुणस्थानके है क्यों कि अभीतक उसका उनसे सर्वथा मोह दूर नहीं हुवा है इसलिये यदि कोई उसका विगाड करता है तो वह अपनी शक्तिभर उसके संरक्षण करनेका प्रयत्न करता है किन्तु जब वह उस परिग्रह का त्याग कर देता है तब उस परिग्रहसे उसका मोह नष्ट हो जाता है फिर चाहे उस परिग्रहका कोई किसी तरह विगाड भी क्यों न करे तो भी उसके परिणाम विचलित नहीं होते तो ऐसा निराकुलमय परिणाम सम्पूर्ण परिग्रह का त्याग करने परही होता है और यही निर्ममत्व परिणाम छठे गुणस्थान कहे जाते हैं इसलिये मानना पडेगा कि द्रव्यलिंगही भावलिंगका कारण है। संतानोत्पत्ति यदि होगी तो विवाह करने पर ही होती है विना विवाह कीये नही होगी यह अटल नियम है पांचवे गुणस्थानके ऊपरके गुणस्थानोंके भाव होंगे तो मुनि व्रत धारण करनेके पश्चातही होंगे इसके पहिले हरगिज नहीं यह अमर नियम है। सम्राट भरत चक्रीके समान आजतक कोईभी वैरागी नहीं हुवा वह छह खण्डकी विभूतिसे सदा उदास

ही रहा करते थे जिसप्रकार कोई अपनी कुलटा स्त्री का-दुश्चरित्र देखकर उदास रहता है उसीप्रकार भरत चक्रीभी इस छह खण्डके परिग्रहको उस कुलटा स्त्री के समान दुखदाई जान-उदास रहते थे तोभी जबतक मुनिव्रत धारण नहीं कीया तबतक उनके पांचवा गुणस्थानही रहा छठा गुणस्थान नहीं हुवा इसका कारण यह है कि उनका सर्वथा उन परिग्रहोंसे निर्ममत्व परिणाम नहीं रहे थे इसीलिये भाईपर चक्र चलाया परिग्रहका संरक्षणभी कीया परिग्रहोंको नष्ट करनेवाले शत्रुओंका सामना भी कीया जिसप्रकार कुलटा स्त्री का जबतक कोई त्याग नहीं करता है तबतक उससे उदास रहनेपरभी अपने सामने उसका पराभव वह नहीं देख सकता कारण यह है कि अभीतक उसका उस कुलटा स्त्री परसे राग नहीं छूटा इसलिये अपने सामने उसका पराभव नहीं देख सकता है उसीप्रकार भरत चक्रीका भी उस कुलटा स्त्री के समान उन परिग्रहोंपरसे संपूर्ण राग दूर नहीं हूआ इसलिये उनको छोड न सके। जिसदिन उनको छोडकर वह मुनि होगये थे उसी समय उनका संपूर्ण परिग्रहोंसे मोह नष्ट हो गया था फिर उन्होंने उन परिग्रहों की तरफ आंख उठाकर भी नहीं देखा और थोडीसी देरमे केवल ज्ञानको प्राप्त कर लिया।

सारांश यह है कि गृहस्थाश्रममें परिणामोंकी विशुद्धि उतनी नहीं होती जितनी विशुद्धि मुनिव्रत धारण करने पर होती है।

ही रहा करते थे जिसप्रकार कोई अपनी कुलटा स्त्री का-दुश्चरित्र देखकर उदास रहता है उसीप्रकार भरत चक्रीभी इस छह खण्डके परिग्रहको उस कुलटा स्त्री के समान दुखदाई जान-उदास रहते थे तोभी जबतक मुनिव्रत धारण नहीं कीया तबतक उनके पांचवा गुणस्थानही रहा छठा गुणस्थान नहीं हुवा इसका कारण यह है कि उनका सर्वथा उन परिग्रहोंसे निर्ममत्व परिणाम नहीं रहे थे इसीलिये भाईपर चक्र चलाया परिग्रहका संरक्षणभी कीया परिग्रहोंको नष्ट करनेवाले शत्रुओंका सामना भी कीया जिसप्रकार कुलटा स्त्री का जबतक कोई त्याग नहीं करता है तबतक उससे उदास रहनेपरभी अपने सामने उसका पराभव वह नहीं देख सकता कारण यह है कि अभीतक उसका उस कुलटा स्त्री परसे राग नहीं छूटा इसलिये अपने सामने उसका पराभव नहीं देख सकता है उसीप्रकार भरत चक्रीका भी उस कुलटा स्त्री के समान उन परिग्रहोंपरसे संपूर्ण राग दूर नहीं हूआ इसलिये उनको छोड न सके। जिसदिन उनको छोडकर वह मुनि होगये थे उसी समय उनका संपूर्ण परिग्रहोंसे मोह नष्ट हो गया था फिर उन्होंने उन परिग्रहों की तरफ आंख उठाकर भी नहीं देखा और थोडीसी देरमे केवल ज्ञानको प्राप्त कर लिया।

सारांश यह है कि गृहस्थाश्रममें परिणामोंकी विशुद्धि उतनी नहीं होती जितनी विशुद्धि मुनिव्रत धारण करने पर होती है।

इसके प्रतिकूल यदि गृहस्थाश्रममें मुनि होनेके भावोंकोही

छठे गुणस्थान का भाव मानलिया जायगा तो पांचवा गुणस्थानकाही अभाव हो जावेगा क्योंकि मुनि होनेका भाव तो पाक्षिक श्रावक के भी होता है अतः मुनि बननेकी पक्षसे ही वह पाक्षिक कहलाता है। परन्तु उसका गुणस्थान चोथा पांचवा ही रहता है मुनि बननेकी भावनासे उसका छठा गुणस्थान नही होता। भावना भावना मात्र है जिनेंद्रदेवका दर्शन करनेकी भावना मात्र से सम्यक्त्वकी प्राप्ति नहीं होती सम्यक्त्वकी प्राप्ति तब ही होगी जब जिनेंद्रदेवका दर्शन करनेसे परिणामोंकी विशुद्धि होगी। शास्त्रस्वाध्याय करनेकी भावना मात्रसे सम्यग्ज्ञानकी प्राप्ति नही होती सम्यग्ज्ञानकी प्राप्ति होगी तो स्वाध्याय करनेपरही वस्तुरूपका ज्ञान होगा। गुरूभक्तिका विचार रखने मात्रसे सम्यकचारित्र की प्राप्ति नहीं होगी सम्यकचारित्रकी प्राप्ति गुरुसेवा करनेसे उनका स्वरूप अवलोकन करनेसे उनका उपदेश सुनने से परिग्रहोंसे मूह मोड़नेसे परिणामोंमें सम्यक चारित्ररूप विशुद्धि आवेगी इसलिये आचार्य कहते है कि।

"जिने भक्तिर्जिने भक्तिर्जिने भक्तिःसदाऽस्तुमे
सम्यक्त्वमेव संसारवारणं मोक्षकारणम्"
'श्रुते भक्तिःश्रुते भक्तिःश्रुते भक्तिः सदाऽस्तु मे।
सज्ज्ञानमेव संसारवारणं मोक्षकारणम् ॥"

"गुरौ भक्तिर्गुरौ भक्तिर्गुरौ भक्तिः सदाऽस्तु मे।
चारित्रमेव संसारवारणं मोक्षकारणम्॥"

अर्थात् जिनराजकी भक्ति सदा करो वह सम्यक्त्वको प्राप्त कराती है संसार का नाश करती है और मोक्षको प्रदान करती है।

इसी प्रकार श्रुताध्ययन और गुरु सेवा सदा करो जिससे सम्यग्ज्ञान की और सम्यक् चारित्र की प्राप्ति होनेसे संसार परिभ्रमणका अभाव होकर मोक्ष सुखकी प्राप्ति हो जावेगी।

सारांश यह है कि क्रिया करने की भावना के भावोंमें और भावनाके अनुकूल क्रिया करते समय के भावोंमें बडा भारी अंतर है। इसलिये क्रिया करनेके पहिले जो क्रिया करनेके भाव होते हैं वह ऊपरी भाव है और क्रिया करते समयके जो भाव होते हैं वह तद्रूप अर्थात् क्रिया रूप तन्मय भाव होते हैं। यह इनमें विशेषता है। इस विशेषताको न समझने वाले अज्ञ जन क्रिया रूप तज्जन्य भाव पहिले होना मानते है और उसके बाद उस रूप क्रिया का होना मानते हैं सो यह जैनागमके प्रतिकूल है। क्रिया रूप परिणाम क्रिया होने पर ही हो सकते है इसके पहिले क्रिया रूप परिणाम नहीं हो सकते। इसलिये पहिले छठे गुण स्थान की क्रिया हो लेती है उसके बाद छठे गुणस्थानके भाव होते हैं यह बात आगमप्रमाण और युक्तिसे सिद्ध है। किन्तु बांझ स्त्री को जिस प्रकार प्रसव

वेदना का बोध नहीं होता उसी प्रकार कांजी स्वामी अव्रती होनेसे उनको व्रत परिणामों का बोध नहीं है इसीलिये अव्रत अवस्थाही व्रत अवस्थाके परिणामों का बोध अनुभव करते हुये वे पाखंड भेषमें ही अपने को कृतकृत्य समझते हैं। संभव है इसी कारण मोक्षके अर्थी महाव्रत धारण करना भी उन्होंने मिथ्यात्व समझ रक्खा है। इस बातको स्पष्ट रूपसे वस्तु विज्ञान सारमें घोषित किया है। "यह मान्यता भी मिथ्या है कि यदि पंचमहाव्रत को विकल्प रूप निमित्त करूंगा तो चारित्र प्रगट हो।" अर्थात् उनकी समझमें महाव्रत धारण करना निरर्थकही नहीं किन्तु मिथ्यात्व है, सम्यक्त्व तो सिर्फ स्थानकवासी भेष में रहकर निश्चय धर्मका प्रतिपादन करने में है। शरीराश्रित क्रिया तो कर्माश्रित है और कर्म वन्धका कारण है। शरीराश्रित क्रियासे आत्माका हित नहीं होता शरीराश्रित क्रियासे आत्माका हित होना मानना उनकी दृष्टि में मिथ्यात्व है इसीलिये वे दान पूजा तीर्थ यात्रादिक करनेसे धर्म होता है ऐसा नहीं मानते और इनके करनेसे धर्म होता है ऐसा मानने वाला मिथ्यात्वी हैं ऐसा कहते हैं। इसीलिये उनके भक्त लोग दान पूजा करना छोड बैठे हैं। "हलद लगे न फिटकरी रंग आवे चोखो" इसको कौन नहीं माने। दान पूजा करने में द्रव्य भी खर्च होता है समय भी नष्ट होता है शरीर को भी कष्ट होता है। नहाने धोनेमें पापभी होता है, इसलिये सम्यक्त्वी ऐसा काम क्यों करें यह कार्य तो संसार वर्धक मिथ्यात्वी लोगोंका है।

इसलिये कांजी स्वामी ने ऐसा सरल मोक्ष-मार्ग खोजकर निकाला है जो दो हजार वर्षमें किसी ने भी नहीं निकाला।

आश्चर्य तो इस बातका है कि कुन्द कुन्द कांन कहलाने वाला व्यक्ति कुन्द कुन्दके सिद्धांतों को मानने की घोषणा करे वह ही कुन्द कुन्द स्वामीके सिद्धांतका ही लोप करे। खेद अपने को महा पंडित समझने वाले लोग यह कहे कि कुन्दकुन्द स्वामीके आध्यात्मिक रसके आस्वादी दो हजार वर्षके बाद एक कांजी स्वामी ही उत्पन्न हुये हैं, इसलिये इनका उपकार इतना है कि इनको अपने कंधे पर बिठलाकर सारी दुनियांमें घुमाने पर भी उनके उपकार से हम उरण नहीं होते। धन्य है कांजी स्वामी को और धन्य है उनके ऐसे अंध भक्त लोगोंको जो उनको अपने कन्धे पर बिठलाकर आपभी सारी दुनियांमें घूमेंगे और उनको भी सारी दुनियांमें घुमावेंगे क्योंकि वे अनादिकालसे सारी दुनियामें घूमते हुये अभी तक थके नहीं है इसलिये वे उनको सारी दुनियांमें घुमाकर अब अपनी हवस पूरी करना चहाते हैं।

यह तो "आप डूबंतो पांड़ियो ले डूबो जजमान" वाली कहावत चरितार्थ हो रही है इसीलिये कुन्दकुन्द स्वामी के सिद्धांतों का लोप करने वालों को कुन्दकुन्द स्वामीके सिद्धांतका प्रचार करने वाले समझ लिया कुन्दकुन्द स्वामीने तो श्रावको के लिये दान पूजा करना मुख्य कर्तव्य कर्म बतलाया है, और

दान पूजा करनेवाले श्रावक को मोक्ष मार्ग में दौड लगानेवाला घोषित किया है।

"दाणं पूजामुक्खं सावयधम्मे ण सावया तेण विणा
झाणाझयणं मुक्खं जइधम्मे ण तेणविणा तहासोवि

रयणसारे।

अर्थात् श्रावक का मुख्य धर्म दान और पूजा है इसको जो करता है वही श्रावक कहला सकता है इसके किये विना श्रावक श्रावक नही कहलाता इसीप्रकार ध्यान और अध्ययन करना मुनियोंका मुख्य धर्म है इसको करनेवालाही मुनि कहलाता है इसके किये विना मुनि नही कहला सकता। तात्पर्य यह है कि श्रावक की पहिचान दान और पूजासे होती है तथा मुनि राजों की पहचान ध्यान और अध्ययनसे होती है। इसके विपरीत यदि श्रावक दान पूजा न कर दान पूजा करने का निषेध करे, तथा मुनिराज भी ध्यानाध्ययन न करे और ध्यानाध्ययन करने का मुनियोंके लिये निषेध करे कि यह तो शरीराश्रित क्रिया है इसको धर्म मानना मिथ्यात्व है ऐसा करने वालों को महाअपराधी बताया है।

दाणु ण धम्मु ण चागुण भोगु ण वहिरप्पा जो पयंगोसो
लोहकसायग्गिमुहे पडिउ मरिउ ण संदेहो। रयणसारे

अर्थात् जो श्रावक सुपात्र में दान नहीं देता है न अष्ट मूलगुणोंको धारण करता है न नीतिपूर्वक भोगोंको ही

भोगता है। तो वह श्रावक वहिरात्मा मिथ्यादृष्टि है। जैनधर्म धारण करने पर भी जैनधर्म से भी वहिरभूत है। वह लोभ की तीव्र अग्निमें पतंगके समान पडकर मरता है इसमें कुछ भी संदेह नहीं है।

कांजी स्वामीने इस सिद्धांतके विरुद्ध अपना सिद्धांत बना लिया है इसलिये दान पूजा और तीर्थयात्रा करनेमें मिथ्यात्व बताते हैं। देखो आत्मधर्म वर्ष ३ अंक ५ "कोई जीव यह मानते है कि दान, पूजा तथा यात्रा आदिसे धर्म होता है और शरीर क्रियासे धर्म होता है तो यह मान्यता मिथ्या है।" यदि दानपूजा तथा यात्रादिसे धर्म नही होता तथा शरीराश्रित क्रियासे धर्म नहीं होता प्रत्युत मिथ्यात्व होता है तो आचार्योंने दानपूजा श्रावकोंका मुख्य धर्म बताकर श्रावकोंको इसके करनेमें लगाया यह उन्होंने भारी अन्याय कीया उनको कांजी जैसा आत्मख्याती गुरु नहीं मिला इसलिये—

देवपूजा गुरूपास्तिः स्वाध्यायः संयमस्तपः
दानं चेति गृहस्थाणां षट् कर्माणि दिने दिने

इन षट् कर्मोंके करनेका उपदेश दीया और बताया कि—

देवगुरू समय भत्ता संसारशरीरभोगपरिवित्ता।
रयणत्तय-संजुत्ता ते मणुव सिवसुरं पत्ता ॥ रयणसारे

अर्थात् देव शास्त्र गुरूको आत्माके कल्याण करनेवाले समझकर उनकी श्रद्धापूर्वक भक्ति भावसे सेवा करता है और जो

संसार शरीर भोगोंसे विरक्त है एवं रत्न त्रयकर संजुक्त है वही भव्यात्मा मनुष्य मोक्षसुखको प्राप्त कर सकता है।

जो सम्यकदृष्टि है वही देव शास्त्र गुरुकी भक्ति करेगा जहां सम्यग्दर्शन है वहां सम्यग्ज्ञान और कमसेकम अष्टमूलगुण रूपी चारित्र अवश्य है और वह मोक्षाभिलाषी संसार शरीर तथा भोगोंसे विरक्त रहता ही है।

यह जैनागमका सिद्धांत है। इस सिद्धांतसे कांजी स्वामी सर्वथा प्रतिकूल है। देवादिक की श्रद्धाको जैनागम तो सम्यकदर्शन स्वीकार करता है। किन्तु कुन्दकुन्द कान कुन्दकुंदके प्रतिकूल देवादिककी श्रद्धाको मिथ्यात्व मानता है जिसको भक्त लोग आंख मूंदकर इसको कुन्दकुन्दके ही वचन मानते हैं। "फूटी आंख विवेककी क्या करे जगदीश" देखो आत्म धर्म वर्ष ४ अंक ६.

जिसप्रकार कुगुरु कुदेव कुशास्त्रकी श्रद्धा और उसीप्रकार सुदेवादिक की श्रद्धा दोनों मिथ्यात्व है। तथापि कुदेवादिककी श्रद्धामें तीव्र मिथ्यात्व है और सुदेवादिककी श्रद्धामें मंद।

अर्थात् कांजी के सिद्धांतसे सुदेवादिककी श्रद्धा करना भी मिथ्या है फिर दिगम्बर धर्म ही किसके आधार रहेगा देव की श्रद्धा करना भी मिथ्यात्व है पंचमहाव्रत चारित्र के लिये धारना भी मिथ्यात्व है और प्रथमानुयोग और चरणानुयोगकी श्रद्धा करना भी मिथ्यात्व है क्योंकि इनमें देवपूजादिक शारी–

राश्रित क्रिया करनेमें धर्म होना बतलाया है सो शरीराश्रित क्रिया करने में धर्म होताही नहीं अतः इनको मानना मिथ्यात्व है अब बाकी क्या रहगया जिसके आधार पर दिगम्बर धर्म टिका हुआ है उसकी श्रद्धा करना जब मिथ्यात्व है तब उसके प्रतिकूल केवल कांजीकी श्रद्धा करना ही सम्यक्त्व हो सकता है। क्यों कि सुदेवादिक की या कुदेवादिक की श्रद्धा करना भी आप मिथ्यात्व मानते हैं फिर कुदेव सुदेव के सिवाय एक कांजी स्वामीही बचे इसलिये संभव है आप अपनी श्रद्धा रखनेवालों को ही सम्यक्त्वी समझते होंगे जोहो जिसके आधार दिगम्बर धर्म अनादिकालसे चला आया है उसकी श्रद्धा करनेको मिथ्यात्व बतानेवाला किसी हालत में दिगम्बरी नहीं हो सकता।

आचार्योंने देवशास्त्र गुरुका श्रद्धा करनेकोही सम्यक्त्व माना है।

"श्रद्धानं परमार्थानामाप्तागमतपोभृताम् ।
त्रिमूढापोढमष्टांगं सम्यग्दर्शनमस्मयम् ॥"

अर्थात् परमार्थानां कहिये मोक्षके कारणभूत, आप्तागम तपोभृताम् कहिये देव शास्त्र और गुरुका अष्टांगं कहिये आठ अंगसहित त्रिमूढापोढ कहिये तीनमूढतारहित अस्मयं कहिये आठ मदरहित श्रद्धानं कहिये श्रद्धान करना, सम्यग्दर्शनं उच्यते कहिये सम्यग्दर्शन कहा गया है।

यहां देव शास्त्र और गुरुको परमार्थ स्वरूप वताया है क्योंकि देव, शास्त्र और गुरु ये तीनोही रत्नत्रय कहिये सम्यक्-दर्शन सम्यग्ज्ञान, और सम्यक् चारित्रकी मूर्ति स्वरूप हैं इस-लिये इनकी श्रद्धा करना रत्न त्रयकी श्रद्धा करना है इस बातका समर्थन करते हुये पं० दोलतरामजीने छहढालामें वतलाया है कि "देवशास्त्र, गुरु परिग्रह विन धर्म दयायुत सारो, यहू महान् समकितको कारण अष्टअंग जुत धारो," कुन्द कुन्द स्वामी ने भी रयणसारमें वताया है कि जो सम्यक् दृष्टि श्रावक जिन पूजा और मुनिदान अर्थात् पात्रदान अपनी शक्ति माफक करता है वह मोक्ष मार्गमें लवलीन है। पूजाके फलसे वह त्रिलोक पूज्य होता है और दानके फलसे वह त्रिलोकके सार सुखको नियमसे भोगता है अर्थात् मोक्ष सुखको प्राप्त होता है।

"जिणपूजामुणिदाणं करेइ जो देइ सत्तिरूवेण।
सम्मादिट्ठी सावयधम्मी सो होइ मोक्खमग्गरवो ।१३
पूयाफलेण लोके सुरपुज्जो हवेइ सुद्धमणो।
दाणफलेण तिलोए सारसुहं भुंजदे णियदं" ।१४।

इसके आगे पात्र दानकी महिमा और भी वताते हैं—

दिणाइ सुपत्तदाणं विसेसतो होइ भोग सग्गमही।
णिवाणसुहं कमसो णिद्दिट्ठं जिणवरिंदेहिं ।।१६।।

अर्थात् जो सुपात्र दान देता है वह भोग भूमिके सुखोंको

भोगकर शेष बचे हुये पुण्य फलसे स्वर्गसुखोंको भोगता है। पश्चात् उत्तम भव पाकर तपश्चरणद्वारा कर्मोंको नष्ट कर निर्वाण सुखको प्राप्त होता है।

"इह णियसुवित्तवियं जो ववइ जिणुत्तसत्तखेत्तेसु।
सो तिहुवणरज्जफलं भुंजदि कल्लाणपंचफलं" ।१८

अर्थात् जिनोक्त सप्तक्षेत्रमें जो भव्य पुरुष अपनी संपत्ति को लगाता है अर्थात् दान देता है वह त्रिभुवनका राजा तीर्थंकर होकर पंच कल्याणकको प्राप्त होता है।

"मादुपिदुपुत्तमित्तं कलत्तधणधण्णवत्थुवाहणविसयं।
संसारसारसौक्खं सव्वं जाणउ सुपत्तदाणफलं" ॥

अर्थात् माता, पिता, पुत्र, मित्र स्त्री, धन, धान्य, वास्तु, वाहन, आदि संसारके सर्व सार सुखोंको सुपात्र दान देने वाला पाता है।

"सत्तंगरज्जणवणिहिभंडारखडंगबलचउद्दहरयणं
छण्णवदिसहसिच्छिविहउ जाणह सुपत्तदाणफलं ॥

अर्थात् नवनिधि चवदह रत्न छयाणवे हजार स्त्री छह-खंडका अधिपतिपना इत्यादि विभूति सुपात्र दानके फलसे प्राप्त होती है।

"सुकुलसुरूवसुलक्खण सुमइ सुसिक्खा सुसीलसुगुण
चारित्तं। सुहलेसं सुहणामं सुहसादं सुपत्तदाणफलं ॥

अर्थात् सुकुल सुरूप सुलक्षण सुमति सुशिक्षा सुशील सुगुण सुचरित्र शुभलेश्या शुभनाम इत्यादि की प्राप्ति सुपात्र को दान देनेसे होती है।

"जो मुणिभत्तवसेसं भुंजइ सो भुंजए जिणवदिट्ठं।
संसारसारसोक्खं कमसो णिव्वाणवरसोक्खं ॥२२॥

अर्थात् जिन राजका यह उपदेश है कि मुनिदानके बाद थालीमें बचा हुआ अन्न अथवा मुनिदानके बाद बची हुई चोके में सर्व सामग्री को जो श्रावक प्रसाद समझकर उसको खाता है वह भी संसारके सार सुखों को भोगकर क्रमशः निर्वाण पदको प्राप्त करता है। इत्यादि यह सुपात्र दान करनेका फल है। इसको कांजी मिथ्यात्व बताते है। फिर गृहस्थों के धर्म साधन करनेका मार्ग ही कौनसा बाकी रह जाता है। देवपूजा करना पात्रोंको दान देना तीर्थ यात्रा करना, शास्त्र स्वाध्याय करना, अपनी शक्तिके अनुसार संयम और तप करना यही तो गृहस्थों का धर्म है। इसके अतिरिक्त गृहस्थोंके धर्मसाधन करनेका कोई मार्ग ही नहीं हैं, सिवाय कांजी स्वामीकी सेवाके, सो भी शरीराश्रित क्रिया होने से वह भी मिथ्यात्व ही कानजी के सिद्धांतसे होगी।

आचार्य तो यहां तक कहते हैं कि देवपूजामें, गुरुसेवामें शास्त्र स्वाध्यायमें, इनकी वन्दना में, दान देनेमें, जो विघ्न डालता है अर्थात् कहता हैं कि इनको पूजनेसे या नमस्कार करने

से इनको दान देने से कुछ लाभ नहीं होता यह शरीराश्रित क्रिया है इसलिये इसमें धर्म मानना मिथ्या है इत्यादि कहकर विघ्न करता है वह नर्क, तिर्यंच दुर्गतिका दरिद्रपनेका, विकलाङ्गी होनेका दुःख भोगता है।

"णरइतिरियाइदुरइदरिद्द वियलंगहाणिदुक्खाणि
देवगुरुसत्थवंदणसुयभेयज्झाइदाण विघणफलं ॥३७॥

क्या कांजी स्वामी कुन्दकुन्द स्वामी के इन वचनोंको मानते हैं ? यदि मानते हैं तो दान पूजा तीर्थ यात्रादिकके करने को मिथ्यात्व क्यों बताते हैं ? यदि कुन्द कुन्द स्वामीके इन वचनों को नहीं मानते हैं तो मैं कुन्द कुन्द स्वामीके सिद्धांतका आनुयायी हूँ ऐसा कहकर भोले जीवों को क्यों फसाते हैं ? कुन्द कुन्द स्वामीके वचनोंकी आड लेकर अपने मतका पोषण करना यह घोर अन्याय है कुन्द कुन्द स्वामीके जो वचन हैं वही वचन सर्व आचार्यों के वचन है कुन्द कुन्द स्वामी ने भी चारूं अनुयोगों का कथन किया है उनमें कांजी स्वामी केवल द्रव्यानुयोग के कथनको ही प्रमाण भूत मानते हैं इस कारण वे उनके बनाये हुये द्रव्यानुयोगके ग्रंथोंका ही पाठन पठन करते हैं अन्य रयणसारादि चारित्र ग्रंथोंका वे पठन पाठन नहीं करते और न उनको प्रमाणभूत ही मानते हैं यदि उनको वे प्रमाण भूत मानते तो दान पूजा यात्राको तथा देव शास्त्र गुरुकी श्रद्धाको एवं मुनि व्रत धारण करने के विकल्पको मिथ्यात्व नहीं बताते। केवल

निश्चयकी कथनी को माननेसे कांजी दिगम्बरी नहीं हो सकते निश्चयकी कथनी तो सर्व मतमतांतर वाले भी मान सकते है क्योंकि निश्चय की कथनी मानने में किसीको कुछ करना धरना नहीं पड़ा आत्मा शुद्ध बुद्ध निरंजन है निर्विकार है अमूर्तिक चैतन्य स्वरूप अनेक गुणात्मक है इत्यादिक विचार करनेमें क्या लगता है ऐसा विचार सर्व धर्म वाले भी करते हैं इससे क्या वे दिगम्बरी कहला सकते हैं यदि फिर व्यवहार को छोडकर केवल निश्चय स्वरूप को मानने वाले कांजी दिगम्बर जैन कैसे ? इनमें और उनमें अंतर क्या है ? जैनागम के व्यवहार को कथंचित कुछ अंशोंमें विधर्मीमानते हैं इस कारण विधर्मी तो कह सकते है कि हम कुछ अंशोंमें जैन हैं किन्तु कांजी तो जैनागम के व्यवहार का सर्वथा लोपही करते हैं फिर वे दिगम्बर जैन कैसे ?

तथा निश्चय की कथनी को द्रव्य दृष्टि समझना यह भी द्रव्य दृष्टि कैसी ? यह तो पर्याय दृष्टि है। सिद्ध अवस्था तो एक पर्याय विशेष है। पर्याय दृष्टिसे अपनी आत्माको सिद्धोंके समान जानते रहिये उससे कुछभी लाभ नहीं होगा प्रत्युत नुकसान ही होगा क्योंकि वर्तमान पर्याय जीवकी सिद्धोंके समान है नहीं। यह मिथ्या मानना है ऐसा मानने वाले निरुद्यमी होते हैं वे वर्तमानमें अपनी अशुद्ध आत्माको शुद्ध बनाने की कोशीश नहीं करते हैं। अतः पर्याय दृष्टिको द्रव्य द्रष्टि समझकर आत्माको द्रव्य दृष्टि से सदा शुद्ध मानली यह पूर्ण द्रव्य नहीं

है यह तो पूर्ण द्रव्यकी एक पर्याय विशेष है, द्रव्य दृष्टि में तो आगे पीछेकी और वर्तमान की सर्व पर्यायों सहित द्रव्य को मानना पडेगा ऐसा गोम्मट्ट सारजी में बतलाया है पृः २१५

"छद्व्वावट्ठाणं सरिसं तियकालअत्थपज्जाये।
वेंजणपज्जाये वा मिलिदेताणं ठिदित्तादो॥"

अर्थात् त्रिकालवर्ती सभी अर्थ पर्यायों और व्यञ्जन पर्यायों सहित द्रव्य पूर्ण समझा जाता है इनमें एकभी पर्याय छूट जाने पर वह लंगड़ा काना हो जाता है। इसलिये सर्व पर्यायोंको मिलाकर ही द्रव्य प्रमाण दृष्टि से पूर्ण द्रव्य कहलाता है अन्यथा नहीं अतः ऐसा मानने वाला ही वतमान में अपने द्रव्य की अशुद्ध अवस्था का अवलोकन कर व्यवहार धर्मके साधन के द्वारा अपनी आत्माको शुद्ध बनाने की कोशिश करता है उसी की वास्तविक द्रव्य दृष्टि कहलाती है। और इसीका नाम आध्यात्मिक प्रवृत्ति है क्योंकि आत्माकी तरफ अभिरुचि होना उसीका नाम आध्यात्मिकता है और अशुद्ध आत्माको शुद्ध बनाने की जो प्रवृत्ति करना वह प्रवृत्ति आध्यात्मिक प्रवृत्ति कहलाती है। अतः आत्माकी तरफ रुचि कराने वाले सब शास्त्र अध्यात्मिक शास्त्र हैं तथा आत्मा की तरफ रुचि कराने वाले नियम धर्म व्रत सब आध्यात्मिक नियम धर्म व्रत हैं। अथवा आत्माकी तरफ झुकाव कराने वाले देव शास्त्र गुरु तीर्थ, आदि सर्व पदार्थ आध्यात्मिक पदार्थ है हमारे यहां दिगम्बर आमनायमें

सवा महिनेके बालक को अध्यात्मिकताकी अभिरुचि कराने के लिये उसको मंदिर में लेजाकर श्री जिनेन्द्र देवके सनमुख उसको अष्ट मूलगुण धारण कराकर उसको दिगम्बर धर्मका अनुयायी श्रावक बनाया जाता है यह बात ऊपर में बताई जा चुकी है। यह अनादिकालीन प्रवृत्ति है सवा महिने के बालक को अष्ट-मूलगुण धारण कराना और आठ वर्ष तक उसके व्रतका संरक्षण उसकी माता के द्वारा कराणा आठ वर्षके बाद उस आठ मूल-गुण व्रतको स्वयं पालन करनेके लिये उस बालकका यज्ञो-पवीत संस्कार करा कर फिर वह व्रत उसको सोंपना जिससे उसकी आत्मा आगेके व्रतोंको धारण करने के योग्य पवित्र बन जाती है। चौथे कालके आदिमें आदिनाथ स्वामी के और भरत महाराज के भी इस व्रतके चिन्ह स्वरूप यज्ञोपवीत था आत्माकी तरफ अभिरुचि इस व्रतमे शुरूआत होती है इस व्रतके बिना आत्माकी तरफ अभिरुचि नहीं होती इस कारण वह अपनी आत्माको शुद्ध बनाने के मार्गमें नहीं लगता अतः इस नियमका तीर्थंकर चक्रवर्त्यादि सबही ने पालन कीया था।

"आजानुलंबिना ब्रह्मसूत्रेण विबभौ विभुः।
हेमाद्रिरिव गंगांबुप्रवाहेण तटस्पृशा" ॥ (आदि०)

कंठहारलतां बिभ्रन् कटिसूत्रं कटीतटे।
ब्रह्मसूत्रोपवित्रांगम सगांगौघमिवाद्रिराट् ॥

आदिपुराण जी

भगवान आदिनाथने भी अपने पुत्रोंका यज्ञोपवीत संस्कार कीया था।

अन्नप्राशनचोलोपनयनादीननुक्रमात्।
क्रियाविधीन् विधानज्ञः सृष्टैवास्य निसृष्टवान्

इन संस्कारों के विना अत्मा के तरफ अभिरुचि नहीं होती इसी कारण यह संस्कार करना पडता है यदि आत्मा की अभिरुची इन संस्कारों के बिना हो जाती तो इन संस्कारोंके कराने की जरूरत न थी। यहां पर यह शंका हो सकती है कि चंड़ालादिकों के यह संस्कार नहीं होते तोभी उनके जैनागममें आत्माकी अभिरुची (सम्यक्त्व) होना बताया है इसलिये इन संस्कारोंके बिना आत्माके तरफ अभिरुची नहीं रहती ऐसा मानना जैनागमके प्रतिकूल है यदि ऐसा नही मानेंगे तो रत्नकरण्ड श्रावकाचार का यह वचन मिथ्या ठहरेगा।

सम्यग्दर्शनसम्पन्नमपि मातंगदेहजम्।
देवा देवं विदुर्भस्मगूढांगारान्तरौजसम्।

इस शंकाका समाधान यह है कि जिसमें संस्कारोंकी योग्यता ही नही है उनके विना संस्कारोंके उपदेशादिक कारणों के मिलनेपर आत्माकी अभिरुची हो सकती है जैसे नारकी जीवों में तिर्यंच योनीमें देवोमें भोग भूमीं में संस्कारों की योग्यता नही है इसलिये उनके संस्कार नही होते तो भी उनमें सम्यक्त्व

हो सकता है उसीप्रकार शूद्रोंमें संस्कारोंकी योग्यता नहीं है इस कारण उनका संस्कार नहीं होता तोभी उनके विना संस्कारोंके ही सम्यक्त्व हो सकता है किन्तु जिनमें संस्कारोंके होने की योग्यता है उनका संस्कार किये विना उनके आत्माभिरुचिरूप सम्यक्त्व नहीं होता यह वस्तुस्वभाव है इसमें तर्क नहीं चलती जैसे एक मेंढक एक फूलकी पांखुरि मुख में दबाकर जिनराजकी पूजा करनेके लिये चला और वह जिनराजतक पहुंच भी न सका रास्तेमेंही वह श्रेणिक राजाके हाथीके पगतले दबकर मरगया और देव हुवा उसीप्रकार यदि कोई ऊंचा वर्णी अपने मुखमें कमलकी एक पांखुरी दबाकर भगवान की पूजा करेगा तो क्या वह स्वर्ग जासकता है ? कदापि नहीं प्रत्युत नर्क जावेगा क्योंकि वह अपनी सकती को छिपाकर छल से ऐसा अयोग्य कार्य करता है उसीप्रकार शूद्रोंका छलकर जो शूद्रवत् क्रिया करके आत्माकी अभिरुची प्रगट करना चाहता है तो वह अपराधी है उसके आत्माकी अभिरुची कभी नही हो सकती है क्योंकि उसने अपनी योग्यताका दुरुपयोग किया। जिसप्रकार अग्नि संस्कार के कियेविना मिट्टीके कलशमें जल धारण करने की क्रियाका करना अपराध है उसका दुरुपयोग करना है उसीप्रकार त्रिवर्णीक आत्मा मिट्टी के कच्चे घड़ेके समान है उसका मूलगुणरूपी अग्नि संस्कार किये विना उसमें आत्माभिरुची जल धारण करने की योग्यता नहीं आती

इसी कारण उनका यज्ञोपवीतादि संस्कार करनेकी आगम आज्ञा हैं। यहां पर कोई यह कुतर्क करे कि शूद्रोंमें जब बिना संस्कारों के ही सम्यकत्वकी प्राप्ती हो सकती है तब शूद्रोंमें महाव्रतरूप चारित्र की प्राप्ति भी बिना संस्कारोंके हो जानी चाहिये क्यों कि दर्शन ज्ञान चारित्र यह तीनो तो एक ठोर ही रहते हैं इस शंका का समाधान यह है कि जिस प्रकार ऊषर (कठोर) भूमीमें हलादिक संस्कार की योग्यता न होनेपर भी उसमें गिराया हुवा बीज जलादिक का संयोग पाकर ऊग तो जाता है पर वृद्धि को और फलको प्राप्त नही हो सकता उसीप्रकार ऊपर भूमिवत् शूद्र शरीरमें तिष्टी हुई आत्मा गुरूकी देशना रूपी जल का संयोग पाकर अपनेमें सम्यक्त्व रूपी अंकूर उत्पन्न तो कर लेती है परन्तु उसको व्रतरूप वृद्धि और मोक्ष रूप फल की प्राप्ति नही कर पाती। उस बीजके अंकूर की वृद्धि और उसके फलकी प्राप्ति जिसप्रकार हलादिक से संस्कार होने वाले भूमीमें ही होती है उसीप्रकार सम्यक्त्व रूपी अंकूर में व्रतरूप वृद्धि और मोक्ष रूपी फलकी प्राप्ति त्रिवर्णिक उत्तम शरीर रूपी भूमीमें संस्कारोंसे संस्कारित होनेपरही होती है। अन्यथा नही। सिंहनी का दूध स्वर्णपात्रमें ही ठहरता है अन्य पात्रमें नहीं उसीप्रकार चारित्र धारण करनेकी पात्रता संस्कारोंसे संस्कारित होनेपर उत्तम त्रिवर्णिक शरीरमेंही है। अन्य शरीरमें नही यह वस्तुस्वभाव है इस वस्तु स्वभावको

न मानने वाला मिथ्यादृष्टि है। विना निमित्त और व्यवहार के किसी भी कार्य की सिद्धि नहीं होती आत्मवादी आत्माका चाहे गीत गाते रहै और अपनी आत्माको अवद्ध अमुक्त शुद्ध निरंजन केवल ज्ञानयुक्त मानते रहै इससे आत्माकी शुद्धि कभी नही होगी यह मिथ्याज्ञान है ब्रह्माद्वैत वाद है क्योंकि संसारी आत्मा सवद्ध अशुद्ध असिद्ध है मूर्त और सांजन है उसको इसके विपरीत शुद्ध बुद्ध निरंजनादि रूप मानना मिथ्याज्ञान नही तो और क्या है ? कांजी आत्माको त्रिकाल केवली मानते हैं जो आत्माको त्रिकाल केवली मानते हैं उनके मानने में आत्मा त्रिकाल शुद्धबुद्ध निरंजन अमूर्त अवद्ध स्वतःसिद्ध हो जाती है इस हालत में फिर नर्क निगोदादि कोई पर्याय अवशेष न रहती और न संसारही अवशेप रहता है और न मतिज्ञाना--दिक की सत्ता किसी जीव के सिद्ध होती है न मिथ्यात्वीभी संसारमें कोई रहता है न गुणस्थान न मार्गणा और उसकी चर्चा शेप रह जाती क्यों कि सव सिद्ध स्वरूप में लय हो जाती है इसीलिये कांजी अपनेको त्रिकाल केवली मानकर पूर्ण प्रत्यक्ष अपनी आत्माका अवलोकन करनेका स्वप्न देख रहे हैं।

किन्तु जैनागम यह कहता है कि पंचमकालमें केवलीयोंका अभाव है इस वातको कांजी स्वामी असत्य करके दिखाने की कोशीस करते है इसीलिये कहते हैं कि "कोई कहे कि आत्माका पूर्ण प्रत्यक्ष अनुभव तो, केवलियोको होता है ! नीचली दशा

में नही होता। तो उसका समाधान यहां वस्तुके स्वभावसे है वस्तु तो त्रिकाल केवली ही है यदि वस्तुमें पूर्ण प्रत्यक्ष केवल ज्ञान सामर्थ्य न होता तो वह लावेगा कहांसे ? और जहां ऐसी वस्तु की प्रतीति हुई वहां स्वयंको अपनी मुक्तिकीभी निशंक खबर हो जाती है आत्माका स्वभाव स्वयं प्रकाशमान है इसलिये उसे स्वयं अपनी खबर पड़ती है" हमारी मुक्ति तो न जाने कब होगी ? इसकी हमे कोई खबर नहीं पड़ती।

अथवा तो आत्मामें कितनी शुद्धता हुई और कितनी अशुद्धता दूर हुई उसकी भी हमे खबर नही पडती "ऐसा जो मानता है उसने स्वयं प्रकाशमान आत्माको जानाही नही स्वयंको अपनी खबर न पड़े ऐसी बात आत्मामें है ही नहीं "आत्मधर्म अंक १२ वर्ष ६

इसमें कांजीने प्रकाश शक्ति का निरूपण करते हुवे आत्माको स्वभाव की अपेक्षा त्रिकाल केवली माना है और इसका कारण आत्मा यह भी जानता है कि मेरेमे शुद्धता कितनी है और अशुद्धता कितनी दूर हुई है एवं मुक्ति कब होगी सोभी जानता है। "ऐसी बात आत्मामें है ही नही जो स्वयंको अपनी खबर न पडे" ऐसा कांजी का कहना है। यह तीनों बातें ही जैनागम के प्रतिकूल है क्योंकि केवल ज्ञान तो एक जीव द्रव्यकी पर्याय विशेष है वह चारघातिया

कर्मोंका नाश होनेपर प्रगट होती है इसके पहिले नहीं अतः आत्माको त्रिकाल केवली मानना मिथ्या है इस विषय में स्व. पं० टोडरमलजीने मोक्षमार्गमें अच्छा खुलासा किया है।

"कोई जीव निश्चयको न जानते निश्चयाभास के श्रद्धानी होय आपको मोक्षमार्गी माने हैं अपने आत्माको सिद्ध समान अनुभवै है। सो आप प्रत्यक्ष संसारी है भ्रमकरि आपको सिद्ध समान माने है सोई मिथ्यादृष्टी है। शास्त्रनिविषे जो सिद्ध समान आत्माको कहा है सो द्रव्यदृष्टि से कहा है पर्याय अपेक्षा समान नाही है। जैसे राजा अर रंक मनुष्यपना की अपेक्षा समान है राजा रंकपनाकी अपेक्षा तो समान है नहीं तैसे सिद्ध अर संसारी जीवत्वपनेकी अपेक्षा समान हैं सिद्धपना संसारीपने की अपेक्षा तो समान है नाही यह जैसे सिद्ध शुद्ध हैं तैसेही आपको शुद्ध माने है सो शुद्ध अशुद्ध अवस्था पर्याय है इस पर्याय अपेक्षा समान मानिये सो मिथ्यादृष्टि है।" यहां टोडरमलजी साबने द्रव्यदृष्टि की अपेक्षा आत्माको सिद्ध समान माना है सो जीवत्वपनेकी अपेक्षा द्रव्यदृष्टिसे कहा है इस बातको स्वयं उदाहरण देकर खुलासा कर गये हैं कि जीवत्व की अपेक्षा समान है यदि ऐसा खुलासा वे न करते तो सिद्ध पर्याय को ही द्रव्यदृष्टि सम मानने लगते तो अनर्थ हो जाता क्यों कि द्रव्यदृष्टिसे सिद्ध अवस्था जीव की नहीं है सिद्ध अवस्था तो जीव द्रव्यकी एक पर्याय विशेष है द्रव्य-दृष्टिमें तो शुद्धाशुद्ध त्रिकाल पर्यायों का समावेश है इस

बातका ऊपर खुलासा किया जा चुका है। अतः द्रव्यदृष्टिसे संसारी आत्मा सिद्धोंके समान नही है। भावी नैगमनय की अपेक्षा अथवा द्रव्य निक्षेपकी अपेक्षा संसारी आत्माको भी सिद्धोंके समान कह सकते हैं जिसप्रकार श्रेणिक के जीवको भाविनैगमनयकी अपेक्षा भविष्य में होनेवाली चोवीसीमें श्रीपद्मनाभ तीर्थंकर को वर्तमानमें भी तीर्थंकर कहकर नमस्कार करते हैं। उसीप्रकार संसारी आत्माकी भविष्य में होनेवाली सिद्ध पर्याय को भाविनैगमनयकी अपेक्षा वर्तमान में भी सिद्धसमान संसारी आत्माको कह सकते हैं किन्तु वर्तमान पर्याय की अपेक्षा या द्रव्यदृष्टि की अपेक्षा सिद्धसमान नही कह सकते। वर्तमान समयमें तो जीवद्रव्यकी अवस्था नर देव नर्क तिर्यंच पर्यायरूप है सिद्ध पर्याय रूप नही इसलिये द्रव्यदृष्टि से भी संसारी आत्माको सदा शुद्ध सिद्धों के समान मानना भ्रम है क्योंकि शुद्ध और अशुद्ध दोंनो जीव द्रव्यकी पर्याये है पर्यायों के साथ द्रव्यभी वैसाही हो जाता है इस बातको और भी स्पष्ट करतेहुये पं० टोडरमल जीने मोक्षमार्गप्रकाशमें लिखा है कि—

"बहुरि आपके केवल ज्ञानादिक का सद्भाव नाही (जैसाकि कांजी आत्माको त्रिकाल केवली मानते हैं) सो आपके तो क्षयोपशमरूप मति श्रुतिज्ञान का सद्भाव है क्षायिक भाव तो कर्मोंका क्षयभये होय। यह भ्रमतें कर्मका क्षय भये बिना क्षायिक भाव माने (केवल ज्ञान क्षायिक भाव है "ज्ञान, दर्शन, दान, लाभ,

भोगोपभोगवीर्याणि च" यह मत्र केवलीके क्षायिक भाव हैं) सो यह मिथ्यादृष्टि है। शास्त्रनिविषैं सर्वजीवनिका केवल ज्ञान स्वभाव कहा है सो शक्ति अपेक्षा कहा है सर्वजीवनिविषैं केवलज्ञानादि रूप होने की शक्ति है (व्यक्तता त्रिकाल छोड वर्तमान में भी नहीं है) वर्तमान व्यक्तता तो व्यक्त भये ही कहिये। कोऊ ऐसा माने है—आत्माके प्रदेशोंमें तो केवलज्ञान ही है ऊपर आवरणतैं प्रगट नहीं है सो यह भ्रम है (जैसा कांजी संसारी आत्माको त्रिकालिन केवली मानते हैं तब आत्मप्रदेशोंमें केवल ज्ञान सब समय स्वतः सिद्ध है। और ऐसा कहते भी हैं कि "यदि वस्तुमें पूर्ण प्रत्यक्ष केवलज्ञान सामर्थ्य न हो तो वह आवेगा कहांसे ? वे पूर्ण प्रत्यक्ष केवलज्ञान सामर्थ्य मानते हैं) जो केवल ज्ञान होय तो वज्रपटलादि आडे होते भी वस्तु को जाने (सो इस बातको कांजी मानते ही हैं इसीलिये कहते हैं कि "हमारी मुक्ति कब होगी कौन जाने इसकी हमें खबर ही नही पडती अथवा तो आत्मामें कितनी शुद्धता हुई व कितनी अशुद्धता दूर हुई उसकी हमें खबर नही पडती ऐसी बातही आत्मामें नही है जो अपनी स्वयं खबर न पडे) कर्म को आडे आये कैसे अटके तातें कर्म के निमित्ततें केवलज्ञान का अभाव ही है। जो याका सर्वदा सद्भाव ही रहे है तो याको पारिणामिक भाव कहते सो यह तो क्षायिक भाव है सर्व भाव जामें गर्भित ऐसा चैतन्य भाव सो पारिणामिक भाव है। याकी अनेक अवस्था मतिज्ञानादिरूप

या केवलज्ञानादि रूप है। सो ए पारिणामिक नाही तातैं केवल ज्ञान का सर्वदा सद्भाव न मानना। वहुरि शास्त्र विषैं सूर्यका दृष्टांत दिया है ताका इतनाही भाव लेना जैसे मेघपटल होते सूर्य का प्रकाश प्रगट न होय है तैसे कर्म उदय होतैं केवलज्ञान न होय है। वहुरि ऐसा भाव न लेना जैसे सूर्य विषे प्रकाश रहे है तैसे आत्माविषैं केवलज्ञान रहे है'' कांजी का कहना मानकर सर्व आत्मामें त्रिकाल केवलज्ञान की सत्ता मानलें तो फिर मेरेमें शुद्धता कितनी है और अशुद्धता कितनी दूर हुई मेरी मुक्ति कब होगी इत्यादिक सवालही नही उठता क्यों कि उनके तो सर्व प्रत्यक्ष है इसलिये संसार अवस्था में मति श्रुतिज्ञान संयुक्त होने पर भी अपनेको त्रिकाल केवली मानना और मेरी मुक्ति कब होगी एवं मेरी शुद्धाशुद्ध अवस्था कितनी है समझ लेना सर्वथा मिथ्या है। यदि यह वात मिथ्या नहीं तो कांजी बतावें उनकी मुक्ति कब होगी और उनमें शुद्धाशुद्ध अवस्था कितनी है अन्यथा मतवालेकीसी वहक है। हां! यदि आत्मा को त्रिकाल केवली न मानकर यह कहते हैं कि आत्मा में केवलज्ञान वर्तमान समय में न होने पर भी आत्मामें केवलज्ञान प्रगट करने की शक्ति सदा विद्यमान है। जैसे बीजमें वृक्ष होने की शक्ति सदा विद्यमान है। जल आदिका निमित्त मिलनेसे वीज से वृक्ष उत्पन्न हो जाता है किन्तु बीज अवस्था में वृक्ष का अभाव ही है। जो उसीप्रकार बाह्य तपका निमित्त पाकर जब आत्माके अंतरंग

परिणामोंकी विशुद्धि हो जाती है तब मतिज्ञानादिही केवल ज्ञानादि होजाता है किन्तु मतिज्ञानादि होते केवलज्ञानका अभाव ही है जो मतिज्ञानादिक होतेभी केवलज्ञान का सद्भाव मानना है सो सर्वथा मिथ्या है। क्यों कि मतिज्ञानादि क्षयोपशमिक ज्ञान है और केवलज्ञान क्षायिक ज्ञान है अतः जहां चायिकज्ञान है वहां चायोपसमिक ज्ञान किस प्रकार रह सकता है? तथा जहां चायो-पसमिक ज्ञान है वहां चायिकज्ञान कैसे बन सकता है? नहीं बन सकता इसका कारण यह है कि चायोपसमिकज्ञान और चायिकज्ञान यह दोनोही ज्ञान, ज्ञानकी पर्याय है इसलिये ये दोनो पर्याय एक साथ होती नहीं, पर्याय क्रमभावी है अतः एक के अभाव में दूसरी उत्पन्न होती है। यह जैनागमका सिद्धांत है इसके विपरीत आत्माको त्रिकालिन केवली मानना मिथ्या है।

कांजी की दुरंगी चाल-कांजी एक तरफ तो निमित्त और व्यव-हारको मानकर उसके आश्रय लाभ होना स्वीकारते है दूसरी तरफ निमित्त और व्यवहारसे लाभ होता है ऐसे माननेवालोंको तीव्र मिथ्यादृष्टि बताते हैं यह अमृत में विष घोलने के समान है। सम्यक्त्व सन्मुख जीवकी पात्रताका निरूपण आप इसप्रकार करते हैं कि "निमित्तरूपसे सच्चेदेव गुरुशास्त्र मिलगये है और कषाय मन्दता पूर्वक तत्व निर्णय का उद्यम करता है ऐसे जीवकी यह बात है। अथवा शांतिनाथ स्वामीके वैराग्य वर्णनमें "ऐसे आत्म-ज्ञानी शांतिनाथ भगवान चक्रवर्ती पदपर थे तब एकबार दर्पणमें

अपना मुख देख रहे थे उस समय दर्पण में एकही साथ दो प्रति-बिंब दिखाई दिये उसमें उनके पूर्वभव का प्रतिबिंब दिखाई दिया था उसे देखतेही वे आश्चर्यमें पड गये और उन्हे अपने पूर्व भवोंका स्मरण हो आया। पूर्वभवों का स्मरण होतेही उन्हे संसार के प्रति अतिशय वैराग्य उत्पन्न हुवा।" यहां निमित्तसे लाभ होता है इस बात को स्वीकार किया है। दूसरी तरफ प्रकाश शक्ति के निरूपण में "जो निमित्त या व्यवहार का अवलम्बन करते करते धर्म होना मानते हैं वे मिथ्यादृष्टि हैं अथवा सम्यक्त्व के सन्मुख जीव की पात्रताके वर्णनमें "जो कुदेव कुगुरू माननेवाले हैं सर्वज्ञ को आहार मानते हैं मुनियों को सवस्त्र मानते हैं व्यवहार के आश्रयसे मोक्षमार्ग मानते है ऐसे जीव तीव्र मिथ्यादृष्टि हैं (आत्मधर्म वर्ष १२ अंक ६) इसमें कुदेव कुगुरू और वस्त्र सहित मुनियों को माननेवाले श्वेताम्बरों को भी तीव्र मिथ्यादृष्टि माना है तथा निमित्त और व्यवहार को मोक्ष मार्ग मानने वाले एवं केवली के नोकर्मवर्गणाका आहार मानने वाले दिग्म्बरीयों को भी तीव्र मिथ्यादृष्टि माना है यहां निमित्त और व्यवहारसे धर्म होता है ऐसा माननेवालोंको मिथ्यादृष्टि बताया है इसका कारण यह हैं कि केवली को आहार मानने वालोको भी तीव्र मिथ्यादृष्टि बताया है इसमें यह खुलासा नहीं किया कि कौनसा आहार माननें वाले तीव्र मिथ्यादृष्टिं है इस सामान्यशब्दसे यह सूचित

होता है कि केवलीके किसीभी प्रकारका आहार मानने वाले तीव्र मिथ्यादृष्टि है। इसमें श्वेताम्बर व दिगम्बर दोनोही आगये। श्वेताम्बर केवली केवलाहार मानते हैं तो दिगम्बरी नोकर्मवर्गणा का ग्रहण रूप आहार मानते हैं इसलिये उनकी समझमें दोनोही तीव्र मिथ्यादृष्टि हैं। इसीप्रकार वस्त्रधारी मुनि माननेवाले भी तीव्र मिथ्यादृष्टि और पंचमहाव्रतादि धारण करने वाले भी मिथ्यादृष्टि। अब सम्यग्दृष्टि कौन रहा सिवाय कांजीके, जो दोनू संप्रदायोंके बीचका निश्चयात्मक रास्ता बताने वाला पूज्य गुरुदेव कांजीस्वामी तो है इनके समान कुन्दकुन्द उमास्वामी समंतभद्र अकलंक विद्यानन्दि इन्द्रनन्दि जिनसेन नेमचन्द्र वसुनन्दि वटकेर शिवकोटि आदि किसीभी आचार्यने विना निमित्त के और विना व्यवहार धर्मके आत्मोपलब्धि नही बताई इसलिये उन्होंने निमित्त और व्यवहार का आश्रय लिया और स्वयं मुनिव्रत धारणकर शीतादि परिसहका सहन किया। जैसा उन्होंने किया वैसा उन्होने प्रथमानुयोग, चरणानुयोग, करणानुयोग और द्रव्यानुयोग स्वरचित ग्रन्थोंमें निमित्त और व्यवहार धर्म का कूडा कचरा मिलादिया उसको गुरुदेव कांजी स्वामीने छाटकर साफ किया अब किसीको निमित्त मिलाने की और व्यवहार धर्म साधन करनेकी अर्थात् दान पूजा यात्रादि करने की जरूरत नहीं, अब तो सुगुरु कांजी स्वामी का बताया हुवा सरल रास्ता विना निमित्त और व्यवहार के आत्मध्यान

लगानेसे सीधा मोक्ष पहुंच जाता है मोक्ष जानेमें न धर्मास्ति-कायकी जरूरत है और न वहां ठहरनेमें अधर्मास्तिकाय की जरूरत है एवं न मुनिव्रत धारण करने की जरूरत है। जरूरत है केवल कांजी स्वामी के गुणानुवाद गाने की जो ऐसा केवल सरल मार्ग खोजकर निकाला जिसमें न घरबार छोडनेकी जरू-रत है, न मुनिव्रत धारण करनेकी जरूरत है।

तीर्थ करादि तीन ज्ञानके धारी होने पर भी ऐसा सरल मोक्ष मार्ग उनके ज्ञानमें न झलका इसीलिये वे भी घर बार राजपाट छोडकर मुनि बने वेले वेले तेले तेले पारणा किया सीत उष्णकी बाधाओं को सहन कीया वनोंमें भटकते रहे तब जाकर उनको पूर्ण बोधि (रत्नत्रय) की प्राप्ति हुई। जिसप्रकार उन्होंने पूर्ण बोधकी प्राप्ति की उसी प्रकार उन्होंने उपदेश दिया और उनके उपदेशानुसार आज तक जितने आचार्य हुये है उन्हींका अनुसरण किया अंधविश्वासी बने रहे किन्तु कांजी स्वामीकी तरह किसीने भी गंभीर दृष्टि से विचार नहीं किया इसलिये सभीने कष्टप्रद मार्गका अवलम्बन किया अन्यथा वे भी कांजी स्वामी की तरह मठाधीस बनकर चैनकी चिडियां उडाते रहते और अध्यात्मामृतरसका पान कर अजर अमर बन जाते। इसी-लिये जो लोग यह कहते है कि दो हजार वर्षमें कांजी स्वामीके समान अध्यात्मरसका पान करने वाला कोईभी उत्पन्न नहीं हुये किन्तु ऐसा कहने वाले सज्जनों ने दीर्घदृष्टिसे विचार नहीं किया अन्यथा ऐसा न कहते क्योंकि कांजी स्वामीके समान विना

निमित्त और व्यवहारके मोक्त मार्गकी उपलब्धि अनादिकालसे किसीने न बताई। जैसी कांजी ने बताई अनादि मिथ्यादृष्टि जीवों को विना देशनालब्धिका निमित्त मिले सम्यक्त्व की प्राप्ति न हुई और न होगी ऐसा जैनागमका सिद्धांत है उसके अनुसार आज तक सभी जैनी भाई सुवह चार वजेसे लेकर रातके ९-१० वजे तक सामायिक स्वाध्याय पूजन जप तप दानादिक यथा शक्ति करते कराते थे और इसीमें वे अपने को मोक्षमार्गी मानते थे और इसीमें अपना कल्यान समझते थे। क्योंकि उनोंने शास्त्रोंमें इन क्रिया कलापों को मोक्षमार्ग समझ रक्खा था और आचार्यों ने भी इन क्रिया कलापों को मोक्षमार्ग वताया था अर्थात् आत्माकी ओर अभिरुचि कराने वाले जितने भी क्रिया कलाप एवं जीवाजीव पदार्थ है वे सब आध्यात्मिक प्रदर्शक होनेसे उन सव कारणों में कार्यका उपचार करके उनको आध्यात्मिक कहा गया। वास्तविक वात भी यही है क्यों कि जो आत्मा की तरफ झुकावे रुचि करावे वे सव प्रवृत्ति या सव शास्त्र एवं सब नियम जप तप आध्यात्मिक है। उनको पुन्य वन्धका कारण-मानकर उनसे वंचित रहना अज्ञानता है क्यों कि पुन्यके उदयमें ही धर्मका साधन बन सकता है।

पुन्यके उदय विना धर्मका साधन नहीं हो सकता अतः धर्मका कारण पुन्य है पुन्यसे ऊंचकुलकी प्राप्ति वज्रवृषभनाराच संहनन का मिलना आर्यक्षेत्रमें जन्म लेना चतुर्थकालमें उत्पन्न

होना सद्गुरुओंका समागम मिलना इत्यादि धर्म साधन करने का निमित्त कारण मिलता है। उपरोक्त धर्म साधन करनेकी सामग्री विना पुन्योदयके नहीं मिलती इसलिये धर्म साधनमें पुन्य प्रधान है इसी बातको आचार्य कहते हैं कि—

"फलस्य कारणं पुष्पं फलं पुष्पविनाशकः ।
पुण्यस्य कारणं पापं पुण्यं पापविनाशकः ॥
धर्मस्य कारणं पुण्यं धर्मः पुण्यविनाशकः ।
मोक्षस्य कारणं धर्मो धर्मो मोक्षस्य साधकः" ॥

अर्थात् जिस प्रकार विना पुष्प के फल नही लगता किन्तु फल लगने पर पुष्प अपने आप नष्ट हो जाता है। अथवा पुण्य का कारण पाप है परन्तु पुण्य होने पर पाप विनष्ट होजाता है। उसी प्रकार धर्मका कारण पुण्य है पर धर्म प्रगट होने पर पुण्य का फिर अस्तित्व नहीं रहता। सारांश यह है कि विना पुन्यके पापोदयमें धर्म साधन नहीं, पापोदय में धर्मसाधनके वाधक कारण रोग शोक आधि व्याधि आदि अनेक उपस्थित होजाते हैं। अतः पुन्यको हेय संसारका कारण मानकर उससे वंचित रहना मूर्खता है। क्योंकि जबतक मोक्षकी प्राप्ति नहीं होती तबतक तो पुन्यसे आत्मा संसारमें भी सुखी रहती है और पुन्यके निमित्तसे धर्म साधन भी बन जाता है यह बडा भारी लाभ है। अंतः "जो निमित्त या व्यवहारका अवलम्बन करते करते धर्म होना मानते

हैं वे मिथ्यादृष्टि है ऐसा आगमविरुद्ध कहने वाला कैसा सम्यक् दृष्टि है जो निमित्त और व्यवहारसे धर्मका लाभ होनेका निषेध करता है ? ऐसे जीवोंके लिये समयसारमें मूढ मिथ्यादृष्टि कहा है "कोई मूढ विकल एकान्त पक्ष गहें, कहें आतमा अकर्ता पूर्ण परम है। तासों जु कोउ कहें जीव कर्ता है तासे फिर कहें कर्मको कर्ता कर्म है। ऐसे मिथ्यामगन मिथ्याती ब्रह्मघाती जीव जिनके हिये अनादि मोहका भ्रम है। तिनके मिथ्यात्व दूर करवेकू कहें गुरु स्याद्‌वाद परमाण आतम धरम है"।

अतः व्यवहार और निमित्तका निषेध करनेवाला अर्थात् इसके आश्रय से लाभ होनेका निषेध करने वाला जैनागम का ही लोप करनेवाला है इसलिये वह दिगम्बरी और सम्यक्त्वी नहीं हो सकता।

जिन पूजाके विषयमें समंतभद्रस्वामीने स्वयंभूस्तोत्रमें बतलाया है कि पूजा करने से जो आरंभ जनित सावद्य होता है वह समुद्रके जलमें एक विषकणिकाके समान है जिस प्रकार वह विषकणिका समुद्रके जलस्वरूप परिणत होजाती है समुद्रके जलको दूषित नहीं कर सकती उसी प्रकार पूजारंभका सावद्य पूजाके पुन्यमें पुन्यके भावको प्राप्त होजाता है अर्थात् सावद्यका दोष नहीं रहता जैसाकि ऊपर बतलाया जाचुका है।

पूज्यंजिनं त्वार्चयतो जनस्य सावद्यलेशो बहुपुण्यराशौ दोषाय नालं कणिका विषस्य न दूषिका शीतशिवाम्बुराशौ

यह तो जिनपूजाके सम्बन्धकी बात है। अब मुनिनिके आहार दानके विषयमें कुन्दकुन्द स्वामी क्या कहते हैं सो देखिये।

"दाणं भोयणमेत्तं दिण्णइ धण्णो हवेइ सायारो।
पत्तापत्तविसेसं संदसणे किं वियारेण" ॥

अर्थात् जिनलिंगको देखकर यह पात्र है या अपात्र है ऐसा संदेह न कर उनको पात्र मानकर भक्ति भाव और श्रद्धा पूर्वक आहारादि दान देना श्रावकका धर्म है अतः श्रावक उनको दान देकर अपने को धन्य समझता है। भावार्थ—कुन्दकुन्द स्वामी-कहते है कि श्रावक को यह विचार करने की जरूरत नहीं कि यह पात्र है अथवा अपात्र है, उनको तो जिनलिंग देखकर पात्र ही समझकर आहारादि देना चाहिये। सारांश यह है कि देना तो आहार मात्र है उसमें यह विचार करे कि अपात्र तो नहीं है ऐसी आशंका करने वाला आहार दानके फलसे वंचित रह जाता है। इसलिये जिनलिंगमें पात्र अपात्रकी परीक्षा करनेका श्रावकको कोई अधिकार नहीं है। आहार दान देनेमें नवधा भक्ति भी की जाती है और उस नोधाभक्तिमें नमस्कार करना पूजन करना भी भक्तिमें है और इसके किये बिना मुनि आहार लेते नहीं इस कारण आहार दान देनेके समय द्वारापेक्षण, ऊंच स्थान, पादप्रक्षालन, पूजन, नमस्कार मनशुद्धि, वचनशुद्धि, कायशुद्धि, अन्नजलशुद्धि (एषणाशुद्धि) इसप्रकार नोधा-भक्ति करनी पडती है।

अब बताइये कांजी स्वामी ने आज तक किसी मुनि को आहार दान दिया है ! या उनके पास गये है अथवा उनको नमस्कारादि किया है ? उन्होंने तो अपनेसे मुनिराजों को हीन समझ रखा है इसलिये उनके पास जाना तो उनका दूर रहा जो मुनि उनकी महिमा सुन करके उनके पास सोनगढ पहुंच जाते है उनको वे नमस्कारादि भी नहीं करते ऊंच स्थान भी नहीं देते अपने समान पट्ट पर जरूर बिठला देते हैं आज भी जो त्यागी उदासीन ब्रह्मचारी उनके पास जाते हैं वे भी निरादर पाकर आते हैं फिर भी उनको दिगम्बरी समझ कर उनके गीत गाते हैं यह वडा आश्चर्य है, वे अपना निरादर नहीं कराते है किन्तु धर्म का निरादर कराकर आते हैं क्योंकि "न धर्मो धार्मिकैर्विना" ऐसा सिद्धांत है इस हालत में कांजी की बात तो जाने दीजिये किन्तु उनके पास जो व्रती जाकर धर्मका (अपने भेष का) अपमान कराते है वे भी कैसे सम्यक् दृष्टि और धर्मात्मा हैं सो भगवान जाने। जैनागम का यहां तक कहना है कि यदि किसी कारण से मालूम भी पड जाय कि यह मुनि द्रव्यलिंगी है, मिथ्या दृष्टि है, तो भी श्रावककी बात जाने दीजिये, मुनिभी उनको भावलिंग के समान नमस्कारादि करते हैं ऐसा मोक्षमार्ग प्रकाशमें बताया है। "जैसे सम्यक्त्वीको पात्र कहा मिथ्यात्वी को अपात्र कहा सो यहां जाके जिनदेवादिकका श्रद्धान पाईये सो तो सम्यक्ती, जाके

तिसका श्रद्धान नाहीं सो मिथ्याती जानना। जातें दान देना चरणानुयोग विषै कहा है सो चरणानुयोगकी अपेक्षा सम्यक्त्व मिथ्यात्व ग्रहण करना। करणानुयोगकी अपेक्षा सम्यक्त्व मिथ्यात्व ग्रहै वो ही जीव ग्यारवें गुणस्थान और वोही जीव अंतरमुहूर्तमें पहिले गुण स्थानमें आवें। तहां दातार पात्र अपात्र का कैसे निर्णय करै बहुरि द्रव्यानुयोग अपेक्षा सम्यक्त्व मिथ्यात्व ग्रहै संघमें मुनि द्रव्यलिंगी भी है भावलिंगी भी है सो प्रथम तो निर्णय होना तिनका कठिन है जातें बाह्यप्रवृत्ति सबकी समान है अर जो कदाचित सम्यक्त्वी को कोई चिन्ह करि ठीक पडे अर वह वांकी भक्ति न करे तब औरनिके संशय होय जो यांकी भक्ती क्यों न करी ऐसे वांका मिथ्यातीपना प्रगट होय तब संघ विषे विरोध उपजे तातें यहां व्यवहार सम्यक्त्व मिथ्यात्व की अपेक्षा कथन जानना। यहां कोई प्रश्न करे कि सम्यक्त्वी तो द्रव्यलिंगी को आपतैं हीन गुणयुक्त माने हैं (जैसा कांजी मानते हैं) तांकी भक्ति कैसे करें ताका समाधान-व्यवहार धर्म द्रव्यलिंगी के बहुत है अर भक्ती करनी सोभी व्यवहार ही है तातै जैसे कोई धनवान होय परन्तु जो कुल विषे बडा होय तांको कुल अपेक्षा बडा मानि तांका सतकार करें तैसे आप सम्यक्त्व गुणसहित है परन्तु जो व्यवहार धर्म विषै प्रधान होय तांको व्यवहार धर्म अपेक्षा गुणाधिक मान तांकी भक्ति करें है ऐसा जानना'' इस

कथनसे अव्रत सम्यक् दृष्टिको सम्यक्त्वरहित व्रती को नमस्कार करना दान सनमान करना कहा है। यदि वर्तमान के मुनि या एलक क्षुल्लक आर्यका और ब्रह्मचारी सबही सम्यक्त्व करके रहित हैं ऐसा थोड़ी देरके लिये मान भी लिया जाय तो भी अव्रती सम्यक् दृष्टिके तो पूज्य हैं ही। इस कथनसे यदि कोई अपने पदस्थ के ऊपरके पदस्थ वालेको नमस्कारादि नहीं करें तो वह नियम से मिथ्यादृष्टि है। चारित्रवानको देखकर सम्यक् दृष्टि नमस्कारादि करे ही ऐसी जैनागमकी आज्ञा है। यदि उनको सम्यक् दृष्टि नमस्कारादि नहीं करता है तो वह चारित्रका निरादर करता है इसलिये ऐसा कहने वाला तीव्र मिथ्यादृष्टि है। चाहे वह अपने मनमें अपनेको सम्यक्त्वी मानता रहै।

क्षायिकने सम्यक्त्वी राजा श्रेणिक मुनिभेषधारी दोय देवोंको जो इनके सम्यक्त्व की परीक्षा करने आये थे उनको मछलियां पकड़ते हुये देखकर भी नमस्कार किया। फिर कहा कि इस भेष में ऐसा कार्य करना योग्य नहीं या तो यह भेष छोड़ दो या ऐसा कुकर्म करना छोड़ दो अन्यथा हम तुमको दंड देंगे ऐसा कहने पर वे दोनू देव प्रगट होकर श्रेणिक महाराजकी स्तुति करने लगे और कहा कि जैसी इन्द्र ने आपके सम्यक्त्वकी प्रशंसा की थी वास्तवमें आप वैसे ही सम्यक् दृष्टि हैं जो जिनलिंगको देखकर आपने इस कुकर्म की तरफ लक्ष न दिया प्रथम नमस्कार

कहां दिखाई पडता है? द्रव्यलिंग ही भावलिंगका द्योतक है अर्थात् द्रव्यलिंगसे ही भावलिंगकी प्रतीति हो सकती है अन्यथा नहीं इसलिये द्रव्यलिंग पूज्य है इस बातको ऊपर दिखाया जा चुका है। अतः जो द्रव्यलिंग का अनादर करता है वह मिथ्या-दृष्टि है।

कांजी द्रव्यलिंगको पूज्य नहीं मानते इसलिये कहते है कि—

"भावलिंगी मुनि मिले वे गुरु हैं तथा कोई ज्ञानी सत्पुरुष (कांजी जैसा) निमित्त रूपसे मिले वे भी ज्ञानगुरु है। मात्र जीवको ज्ञानीका उपदेश ही निमित्त रूप होता है।

आत्मधर्म अंक १२ वर्ष ६

कांजीकी दृष्टिमें भावलिंगी मुनि गुरु हैं अथवा ज्ञानी सत्पुरुष ज्ञान गुरु है किन्तु उनकी दृष्टि में द्रव्यलिंगी मुनि कुगुरु है। भावलिंगी की पहिचान तथा ज्ञानी सत्पुरुषकी पहिचान कांजीके दिव्यज्ञानसे होजाय सो ठीक है बाकी के सब अठीक है। कांजी की दृष्टिमें स्यायद जच गई हो कि पंचम कालमें भावलिंगी मुनि होतेही नहीं इसीलिये वे किसी मुनिको नमस्कारादि नहीं करते। किन्तु पंचम कालमें भी भावलिंगी मुनि होते है ऐसा कुन्दकुन्द स्वामीने भी कहा है—

सम्मविमोही तवगुण चारित्तसण्णाण दाणपरिधीणं
भरहे दुस्सम काले मणुयाणं जायदे णियदं"

अर्थात्–समकित सुद्धा तप चारित सतज्ञान दान परधान।
भरत काल पंचम मनुष निहचैं उपज महान"

इस दुस्सम पंचमकालके अंततक भी भावलिंगी मुनि होते रहेंगे अर्थात् पंचमकालके तीन वर्ष साड़े आठ महिने बाकी रहेंगे तबतक भावलिंगी मुनियोंका सद्भाव रहेगा ऐसा उत्तर पुराणमें गुणभद्र स्वामीने भी बताया है। जब पंचमकालका तीन वर्ष साडे आठ महिना बाकी रहेगा तब कलकी राजा मुनि के हाथ का प्रथम ग्रास करमें ग्रहण करेगा तब मुनि तो अंतराय कर चले जावेंगे किंतु इस अन्याय को सहन न करके धरणेन्द्र कुपित होकर कलकीका नाश करेगा ऐसा उत्तरपुराणमें लिखा है।

अभी तो पंचमकालके ढाई हजार वर्ष व्यतीत हूये हैं साड़ी अठारह हजार वर्ष और पंचमकालके बाकी हैं क्या आज ही भावलिंगी मुनियोंका अभाव मान लिया जायगा ? कदापि नहीं। जो द्रव्यलिंग को देखकर उनमें भावलिंग होनेकी शंका करता है वह संशय मिथ्याती है। उसको द्रव्यलिंगके बिना निखालिस भावलिंग कहां दिखाई पडेगा ? जो द्रव्यलिंगमें भावलिंग का संशय करता हैं।

कांजी निमित्त से लाभ होना न माननेवाले इस जगह "पात्र जीवको ज्ञानी गुरुका उपदेश ही निमित्त रूप होता है" ऐसा बताकर आप ज्ञानी गुरू बन बैठे और आपके उपदेशके निमित्त

से पात्र जीवों को (जो कांजी के भक्त हैं) लाभ होना भी स्वीकार किया है।

किंतु मेरी मा और बांझ यह नहीं हो सकता क्योंकि मेरी मा है तो बांझ नहीं और बांझ है तो मेरी मा कैसी इसीप्रकार निमित्त और व्यवहारसे लाभ मानने वाला यदि मिथ्यादृष्टि हैं तो ज्ञानी गुरुके उपदेश से पात्र को सम्यक्त्व का लाभ होना कैसा ? यदि निमित्त और व्यवहारसे लाभ होता है तो फिर यह कहना मिथ्या है कि निमित्त और व्यवहार से लाभ होना माननेवाला मिथ्या दृष्टि है। इसलिये परस्पर विरोधी दो बात नहीं बनती। जहां सु गुरू सुज्ञानी के निमित्त से पात्र को लाभ होता है वहां निमित्त और व्यवहार के आश्रय लाभ नहीं होता ऐसा कहना मिथ्या है इसलिये ऐसा मानना उचित है कि जिसप्रकार सुगुरु सुज्ञानी के निमित्त से पात्र जीवोंको लाभ होता है उसीप्रकार कुगुरु कुज्ञानी के निमित्त से पात्र जीवों को नुकसान भी होता है। अतः नुक-सान पहूंचानेवाले निमित्त और व्यवहार से दूर रहना और लाभ पहूंचाने वाले निमित्त और व्यवहारका आश्रय लेना श्रेय-स्कर है। बुरे निमित्त और बुरे व्यवहारोंसे आत्माका परिणाम बिगड़ता है और अच्छे निमित्त और अच्छे व्यवहारों से आत्मा का परिणाम सुधरता है यह सुनिश्चित बात है। इसीलिये मुनि रात्री में गृहस्थी के घरपर नहीं रहते क्यों कि चित्तमें कामवा-

सना जागृत हो जाती है। जैसा कि सीता का चित्रपट्ट देखकर भामंडलका तथा रुक्मिनी का चित्रपट देखकर कृष्णका चित्त चलायमान हो गया था। यह निमित्त का असर है इसीलिये साधु गृहस्थ के घरपर रात्रीमें निवास नहीं करते ऐसा नीतिसार में कहा है—

"श्रमणः श्रावकादीनां निवासे निशि न शयेत्
चित्ते कृतापि योषा या चित्तविभ्रमकारिणी"

मुनि आर्यकाओं के साथ भी गमनागमन नहीं करते क्यों कि लोकापवाद हो जाता है इस कारण चित्तमें भी क्षोभ उत्पन्न हो जानेसे परिणामों में शांति नही रहती।

"नार्यकाभिः समं मार्गे गंतव्यं यतिसत्तमैः
तत्संगमात् पुराभूवन् यतयो दुःखभाजनम्"

मुनि एकांत में अकेली युवती के साथ भी बात नहीं करते और न अकेली के साथसे आहार करते न अकेली के साथ बैठते उठते।

"एकया योषिता सार्द्धं स्वमेकाकिना सता।
न गोष्ठिक्रियते नैव भुज्यते नाऽऽस्यतेऽपि वा"।

व्रती पुरुषों के जिस देशमें, नगरमें, वसतिकामें मन इन्द्रिय

अत्यंत क्षोभित हो उठता है उस स्थान को छोडकर दूसरे स्थान में चले जाते हैं, जहां अपने व्रतोंकी रक्षा हो।

"यत्र यत्रेन्द्रियक्षोभो जायते व्रतिनां परम्।
तं तं देशं परित्यज्य चारित्रं रक्षयेन्मुनिः"

इत्यादि प्रमाणोंसे अच्छितरह सिद्ध होजाता है कि निमित्तों से परिणाम विगडते सुधरते है इसीलिये बुरे निमित्त का परिहार कर अच्छे निमित्तोंको जुटाते हैं।

अग्निके निमित्तसे जल गर्म हो जाता है खाना पकाया जाता है। औषधिके निमित्त से बडे बड़े रोग नष्ट हो जाते हैं। (संभव है निमित्त से लाभ न मानने वाले कांजी भी औषधादि लेते होंगे) इत्यादि व्यवहार कार्यों की सिद्धिमें निमित्तों की परम आवश्यकता होती है। तब परमार्थ की सिद्धि बिना निमित्त के किसप्रकार हो सकती है? नहीं हो सकती है। जीव और पुद्-गल के गमनागमनमें निमित्त कारण धर्मास्तिकायका है। सिद्ध भगवान भी धर्मास्तिकायके अभावसे लोकाकाशके आगे नहीं जाते "धर्मास्तिकायाभावात्" ऐसा सूत्रकार का कहना है।

विना निमित्त के पैड का पत्ता भी नहीं हिलता वह भी हवा का निमित्त पाकर ही हिलता है। यदि कोई कार्य विना निमित्त के सिद्ध होता हो तो कांजी बतावे कि अमुक कार्य बिना

निमित्त के सिद्ध हो जाता है अन्यथा ऐसा कहना छोड दें कि निमित्त और व्यवहार से कोई लाभ नहीं होता। अनादि कालसे यह आत्मा निमित्त और व्यवहार से अशुद्ध हो रहा है जिन जिन कारणों और व्यवहारों से यह आत्मा अशुद्ध हो रहा है उन उन कारणों और व्यवहारों के उनके प्रतिकूल कारणों का आश्रय लिये बिना वह आत्मा शुद्ध नहीं हो सकता। अर्थात् उसका संसार परिभ्रमण नही छूट सकता इसलिये आत्माकी अशुद्धि के कारणों को दूर करने के कारण मिलाना और आत्माकी शुद्धि होने के कारणों का आश्रय लेना परमावश्यक है। जब बुरे निमित्त कारणों से आत्मा अशुद्ध हो जाता है तब अच्छे निमित्त कारणों से आत्मा शुद्ध क्यों नहीं हो सकता? अवश्य हो सकता है। इस बात को न माननेवाले एकांतवादी मिथ्या-दृष्टि है।

समयसार में ऐसा बतलाया है कि रागादि भाव जीव के नहीं है इस बातको सर्वथा ऐसा मान ले कि रागादि भाव जीबमें होतेहीं नहीं तो फिर रागादि भाव दूर करने का उपाय करना व्यर्थ है जब जीवके रागादि भावही नहीं है तब जीवको वीतरागी कहना भी असंगत है क्योंकि वीतरागी तो उसको ही कहा जा सकता है जिसका राग वीत गया है (नष्ट हो गया है) जब जीव में रागही नहीं तब राग नष्ट कैसा? अतः समयसारमें जो ऐसा कहा गया है कि—

क्यों कि अपनी आत्माको सदा शुद्ध माननेवालेको निमित्त और व्यवहार की जरूरत नहीं रहती किन्तु जो अपनी आत्माको कर्मोंके निमित्तसे अशुद्ध है ऐसा मानता है वही जीव अपनी आत्मासे कर्ममल दूर करके अपनी आत्माको शुद्ध बनानेकी चेष्टा करता है और वही व्यवहार धर्म को निश्चय धर्मका साधन मानकर व्यवहार धर्मके सहारे निश्चय धर्म में पहूंचने की चेष्टा करता है।

जो लोग व्यवहार धर्म को पुण्याश्रव का कारण मानकर उससे संसार वृद्धि समझकर उसका निषेध करते हैं वह भी अपनी आत्माका अहित करते हैं क्यों कि संसारका कारण पुण्य नहीं संसारका कारण है मिथ्यात्व जहां मिथ्यात्व गया कि सब पुण्य मोक्ष मार्गमें जीवको सहायक बन जाते हैं जिसप्रकार कोतवाल चोरोंको बदमाशोंको दंड देता है और साहुकारों की मदत करता है उनकी रखवाली करता है उसीप्रकार सम्यग्दृष्टिके लिये पुण्य सहायक होता है और वही पुण्य मिथ्यादृष्टिको भोगाशक्त बनाकर संसार में नाना प्रकारका दुख दिखाता है इसलिये पुण्यों को संसारका कारण समझना अज्ञान ही है।

रत्नकरंडश्रावकाचारमें बतलाया है कि इस जीवका उपकारी तीन लोकमें सम्यक् दर्शनके समान दूसरा कोई नहीं है तथा इस जीवका अपकारी तीन लोक तिहुं कालमें मिथ्यात्वके

समान दूसरा कोई नहीं है इसलिये मिथ्यात्व को ही संसारका कारण समझकर उसके नाशका उपाय करना चाहिये। मिथ्यात्व का नाश होनेपर पुन्य मित्रका काम करता है ऐसा मानकर पुन्य उपार्जन करनेसे वंचित नहीं रहना और मिथ्यात्व को नष्ट करना यही ज्ञानी जीव का कर्तव्य है।

न सम्यक्त्वसमं किञ्चित्त्रैकाल्ये त्रिजगत्यपि।
श्रेयोऽश्रेयश्चमिथ्यात्वसमं नान्यत्तनूभृताम्" ॥

अर्थात् तीन लोक और तीन कालमें जीवोंका सम्यक्त्वके समान कल्याण करने वाला और कुछ भी नहीं है। और मिथ्यात्वके समान तीन लोक तीन कालमें जीवोंका अकल्याण करने वाला और कुछभी नहीं है। अतः मिथ्यात्वके नाश न करनेसे आत्मा कभी सुखी नही होगी। पुन्य संसार का कारण नहीं है संसारका कारण मिथ्यात्व ही है मिथ्यात्वके साथ जो पुन्य वन्ध होता है वह पुन्य संसारमें रुलाने वाला कथंचित हो सकता है किन्तु सम्यक्त्वके साथ रहने वाला पुन्य तो संसारसे पारही कराता है।

परमात्मप्रकाशमें भी श्रावक धर्मका वर्णन करते दान पूजा वन्दनादिक को परंपरामुक्ति का कारण मानकर इसके करनेका उपदेश दिया है।

राग द्वेष परिणाम जीवका नहीं है, समयसारकारने ऐसा नहीं माना है। उपरोक्त कथनसे कोई ऐसा समझ बैठे तो फिर समयसार का यह कहना मिथ्या ठहरता है जो राग द्वेष परिणाम जीवका बतलाया है इसलिये मानना पड़ेगा कि वह शुद्ध स्वरूपकी अपेक्षा कथन है सर्वथा नहीं।

शुद्ध भाव चेतन अशुद्ध भाव चेतन
दुहूँ को करतार जीव और नहीं मानिये।
कर्म पिंड को विलास वर्ण रस गंध फास
करतार दुहूँ को पुद्गल परमानिये॥
तातैं वरणादि गुण ज्ञानावरणादि कर्म
नाना परकार पुद्गल रूप जानिये।
समल विमल परिणाम जे जे चेतनके
ते ते सब अलक्ष पुरुष यों वखानिये॥
"व्यवहार दृष्टि सों विलोकित बन्ध्यो सो दीखे"
निश्चय निहारत न बांध्यो यहु किनहीं।
एक पक्ष बन्ध्यो एक पक्ष सों अबन्ध सदा
दोउ पक्ष अपने अनादि धरे इनहीं॥
कोउ कहे समल विमल रूप कोउ कहे
चिदानन्द तैसो हि बख्यानो जैसो जिनहीं।

बन्ध्यो माने खुल्यो माने द्वै नयन के भेद जाने
सो ही ज्ञानवन्त जीव तत्त्वपायो तिनही ॥

अर्थात्—ज्ञानी उसीको कहा जा सकता है जो दोनू नयोंको सापेक्ष साधे। वस्तु स्वरूप का प्रतिपादन दोनू नय सापेक्ष कथन करे क्योंकि वस्तु स्वरूप ही ऐसा है।

"करम अवस्था में अशुद्ध सो विलोकियत
करम कलंक सो रहित शुद्ध अंग है।
उभय नय प्रमाण सम काल शुद्धाशुद्धरूप
ऐसो परियाय धारी जीव नाना रंग है॥
एकही समय में त्रिधादि रूप पै तथापि
यां की अखंडित चेतना शकति सरवंग है।
यह है स्याद्वाद याको भेद स्याद्वादी जाने
मूरख न माने जाको हियो द्रगभंग है॥

यह संसारी जीव समकालिन शुद्धाशुद्ध रूप उभय नय से प्रमाणभूत है। शक्तिकी अपेक्षा शुद्ध है। व्यक्ति की अपे अशुद्ध है ऐसा जो जानता है वह स्याद्वादको जाननेवाला स्याद्वादी है परन्तु जो मूढ है वह एकांत पक्ष ग्रहण कर आत्माको सदा शुद्ध मानता रहे सो मिथ्यात्व है। कारण यह है कि आत्माको सदा शुद्ध माननेवाला जीव निमित्त और व्यवहारका लोप करता है

"मैं त्रिकाल करनी सों न्यारा, चिद्विलासपद जगत उज्यारा।
राग विरोध मोह मम नाहीं, मैरो अवलंबन मुझमाहीं ॥"

इस कथन से कोई यह समझलें कि मैं तो करनीसे त्रिकाल ही न्यारा हूं मुझे करनी करने की जरूरत नहीं वह यह नहीं विचारता कि मैं जिस करनी से अनादिकालसे अशुद्ध हो रहा हूं उस अशुद्धता को दूर करने के लिये तो मुझे प्रयत्न पूर्वक करनी करनी पडेगी जब मैं शुद्ध हो जाऊंगा तब मैं करनी से न्यारा हो सकता हूं और जगत को उज्यार कर सकता हूँ फिर राग विरोध मोह मेरेमें न रहेगा एवं मेरा अवलंबन मेरेमें ही हो जावेगा फिर मुझे दूसरे के अवलंबन की जरूरत नहीं रहेगी यह कथन शक्ति-की अपेक्षा है आत्माकी शक्ति इस रूप होने की है परन्तु शक्ति व्यक्त करने की जरूरत है सो विना प्रयत्न के वह शक्ति व्यक्त नही होती जिसप्रकार कमजोर पुरूप चलने फिरनेमें असमर्थ है वह यदि प्रयत्न पूर्वक शक्तिवर्धक पदार्थों का सेवन न करेगा तो उसमें जो शक्ति चलने फिरनेकी अव्यक्त रूपमें मोजूद है वह व्यक्त किसप्रकार होगी और वह किसप्रकार चलने फिरने लगें अथवा छोटा बालक चल फिर नहीं सकता उसमें चलने फिरनेकी शक्ति अव्यक्त रूपमें तो है किंतु व्यक्त नही है इसलिये उस शक्तिको व्यक्त करने के लिये दूसरेकी अंगुलीके सहारे अथवा गाडले के सहारे चल फिरने की शक्तिको वह व्यक्त कर

लेता है फिर चलने फिरने लगता है। उसीप्रकार जीवमें सिद्ध होनेकी शक्ति तो है परन्तु अभिव्यक्त नहीं है इसलिये उस शक्ति को व्यक्त करने के लिये महाव्रतादि करनी करनेसे ही वह शक्ति व्यक्त हो सकती है अन्यथा वर्तमान में भी शक्ति व्यक्त हुये विना ही अपने को त्रिकाल करनी से न्यारा समझकर प्रमादी होकर उदासीन हो बैठना यह कहां का आत्मधर्म है?

"जीव अनादि स्वरूप मम कर्म रहित निरुपाधि
अविनाशी अशरण सदा सुखमय सिद्ध समाधि"

यह शक्ति की अपेक्षा ऐसा कहा गया है न कि व्यक्ति की अपेक्षा यदि व्यक्तिकी अपेक्षा ऐसा समझे तो वह मिथ्यादृष्टि है एकांतवादीहै यह कथन शुद्ध निरुपाधि कर्म निरपेक्ष सिद्धोंके स्वरूप को लक्षमें रखकर उस अपेक्षा कहा गया है न कि सर्वथा ही ऐसा मानकर कहा गया यदि सर्वथा ही ऐसा मानकर कहा गया है तो शुद्ध सिद्ध हो चुका है फिर उसको तपश्चरण कर कर्मों का नाश कर शिवप्राप्ति करने की जरूरत ही न रहेगी फिर तो सप्ततत्त्व, नोपदार्थ, चौदहमार्गणा, जीव समास चौदह गुणस्थानादिककी सुव्यवस्था जो देखनेमें और अनुभवमें आरही है जो अनादिकालसे व्यवस्थित है सो सब मिथ्या ठहरेगी इसलिये शुद्ध स्वरूप की अपेक्षा वैसा है और अशुद्ध स्वरूप की अपेक्षा ऐसा है ऐसा मानना न्याय संगत है। इसका कारण यह है कि सर्वथाही

क्यों कि अपनी आत्माको सदा शुद्ध माननेवालेको निमित्त और व्यवहार की जरूरत नहीं रहती किन्तु जो अपनी आत्माको कर्मोंके निमित्तसे अशुद्ध है ऐसा मानता है वही जीव अपनी आत्मासे कर्ममल दूर करके अपनी आत्माको शुद्ध बनानेकी चेष्टा करता है और वही व्यवहार धर्म को निश्चय धर्मका साधन मानकर व्यवहार धर्मके सहारे निश्चय धर्म में पहूंचने की चेष्टा करता है।

जो लोग व्यवहार धर्म को पुण्याश्रव का कारण मानकर उससे संसार वृद्धि समझकर उसका निषेध करते हैं वह भी अपनी आत्माका अहित करते हैं क्यों कि संसारका कारण पुण्य नहीं संसारका कारण है मिथ्यात्व जहां मिथ्यात्व गया कि सब पुण्य मोक्ष मार्गमें जीवको सहायक बन जाते हैं जिसप्रकार कोत-वाल चोरोंको बदमाशोंको दंड देता है और साहुकारों की मदत करता है उनकी रखवाली करता है उसीप्रकार सम्यग्दृष्टिके लिये पुण्य सहायक होता है और वही पुण्य मिथ्यादृष्टिको भोगाशक्त बनाकर संसार में नाना प्रकारका दुख दिखाता है इसलिये पुण्यों को संसारका कारण समझना अज्ञान ही है।

रत्नकरंडश्रावकाचारमें बतलाया है कि इस जीवका उपकारी तीन लोकमें सम्यक् दर्शनके समान दूसरा कोई नहीं है तथा इस जीवका अपकारी तीन लोक तिहुं कालमें मिथ्यात्वके

समान दूसरा कोई नहीं है इसलिये मिथ्यात्व को ही संसारका कारण समझकर उसके नाशका उपाय करना चाहिये। मिथ्यात्व का नाश होनेपर पुन्य मित्रका काम करता है ऐसा मानकर पुन्य उपार्जन करनेसे वंचित नहीं रहना और मिथ्यात्व को नष्ट करना यही ज्ञानी जीव का कर्तव्य है।

न सम्यक्त्वसमं किञ्चित्त्रैकाल्ये त्रिजगत्यपि।
श्रेयोऽश्रेयश्चमिथ्यात्वसमं नान्यत्तनूभृताम्" ॥

अर्थात्-तीन लोक और तीन कालमें जीवोंका सम्यक्त्वके समान कल्याण करने वाला और कुछ भी नहीं है। और मिथ्यात्वके समान तीन लोक तीन कालमें जीवोंका अकल्याण करने वाला और कुछभी नहीं है। अतः मिथ्यात्वके नाश न करनेसे आत्मा कभी सुखी नही होगी। पुन्य संसार का कारण नहीं है संसारका कारण मिथ्यात्व ही है मिथ्यात्वके साथ जो पुन्य वन्ध होता है वह पुन्य संसारमें रुलाने वाला कथंचित हो सकता है किन्तु सम्यक्त्वके साथ रहने वाला पुन्य तो संसारसे पारही कराता है।

परमात्मप्रकाशमें भी श्रावक धर्मका वर्णन करते दान पूजा वन्दनादिक को परंपरामुक्ति का कारण मानकर इसके करनेका उपदेश दिया है।

"दाणु ण दिण्णउ मुणिवरहं णवि पुज्जिउ जिणणाहु।
पंच ण वंदिय परमगुरु किमु होसइ सिवलाहु" १६८

टीका—दानं न दत्तं मुनिवरेभ्यः नापि पूजिताः जिननाथः।
पंच न वंदिताः परमगुरवः किं भविष्यति शिवलाभः।

दाणु इत्यादि दाणु ण दिण्णउ आहाराभय भैषज्य शास्त्रभेदेन चतुर्विधिदानं भक्तिपूर्वकं न दत्तम् केषां मुनिवरहं निश्चयव्यवहाररत्नत्रयाराधकानां मुनिवरादि चतुर्विधसंघस्थितानां पात्राणां ण वि पुज्जिउ जलधारया सह गंधाक्षत पुष्पाद्यष्टविधपूजया न पूजितः। कोऽसौ जिणणाहु देवेन्द्रधरणेन्द्रनरेन्द्रपूजितः केवलज्ञानाद्यनन्तगुणपरिपूर्णः पूज्यपदस्थितो जिननाथः। पंच ण वंदिया न वन्दिताः के ते परमगुरु त्रिभुवनाधीश वन्द्यपदस्थितअर्हत्सिद्धाः त्रिभुवनेशवन्द्यमोक्षपदाराधकाः आचार्योपाध्याय साधवश्चेतिपंचगुरवः किमु होसइसिवलाहु शिवशब्दवाच्यमोक्ष पदस्थितानां तदाराधकानामाचार्यादीनां च यथायोग्यं दानपूजावन्दनादिकं न कृतम् कथं शिवशब्दवाच्य मोक्षसुखलाभो भविष्यति न कथमपीति। अत्र दं व्याख्यानं ज्ञात्वा उपासकाध्ययन शास्त्रकथित मार्गेण विविद्रव्य दातृपात्रलक्षणविधानेन दातव्यम् पूजावंदनादिकं च कर्तव्यमिति भावार्थः।

अर्थात् दान पूजा वन्दनादि न करना अथवा करनेका

निषेध करना कहने वालोंको मिथ्यात्वी समझना तीनूं समान है और यह मोक्ष मार्गसे वंचित मिथ्यादृष्टि है। उपरोक्त कथनसे ऐसा सिद्ध होता है। इसके आगे निश्चय व्यवहार मोक्षमार्गका निरूपण करते हुये लिखते हैं कि—

"जं बोल्लइ विवहारणउ दंसणुणाणचरित्तु।
ते परियाणहि जीव तुहु जे परु होहि पवित्त ।१४
यद् ब्रूते व्यवहारनये दर्शनज्ञानचारित्रं।
तत् परिजानीहि जीव येन परःभवति पवित्रः" ॥

टीका—जं इत्यादि जं यत् बोल्लइ ब्रूते कोऽसौ व्यवहारणउ व्यवहारनयः यत् किं ब्रूते दंसणु णाणु चरितु सम्यग्दर्शन ज्ञानचरित्रत्रितयं पूर्वोक्तं भेदरत्नत्रयस्य रूपं परिजाणहि परि समन्तात् जानीहि जीव तुहु जीव त्वं कर्त्ता जे येन भेदरत्नत्रय-परिज्ञानेन परु होहि परः उत्कृष्टो भवसि त्वम् पुनरपि कि विशिष्टस्त्वम् पवित्तु पवित्रः सर्वजनपूज्य इति तद्यथा हे जीव सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्ररूपनिश्चयरत्नत्रयलक्षणनिश्चयमोक्ष मार्गसाधकं व्यवहारमोक्षमार्गं जानीहि त्वं येन ज्ञानेन कथंभूतो भविष्यति परंपरया पवित्रः परमात्मा भविष्यसि इति व्यवहार निश्चयमोक्ष मार्गस्वरूपं कथ्यते। तद्यथा वीतरागसर्वज्ञप्रणीतषट्द्रव्यादि-सम्यक्श्रद्धानज्ञानव्रताद्यानुष्ठानरूपो व्यवहारमोक्षमार्गः सा-ध्यो निश्चयमोक्षमार्गः। अत्राह शिष्यः निश्चयमोक्षमार्गो निर्विकल्पः तत्काले सविकल्पमोक्षमार्गो नास्ति कथं साधको भवतीति अत्र

परिहारमाह—भूतनैगमनयेन परंपरया भवतीति। अथवा सविकल्पनिर्विकल्पभेदेन निश्चयमोक्षमार्गो द्विधा तत्रानन्तज्ञानस्वरूपोऽहमित्यादि सविकल्पसाधको भवति निर्विकल्पकसमाधिरूपो साध्यो भवतीति भावार्थः। सविकल्पनिर्विकल्पनिश्चयमोक्षमार्गविषये संवादगाथामाह—

"जं पुणसगयं तच्चं सवियप्पं होइ तह य अवियप्पं।
सवियप्पं सासवयं णिरासवं विगयसंकप्पं"॥

एवं पूर्वोक्ते एकोनविंशति सूत्रप्रमितमहास्थलमध्ये निश्चय व्यवहारमोक्षमार्गप्रतिपादनरूपेण सूत्रत्रयं गतम् इदानी चतुर्दश सूत्रपर्यंतं व्यवहारमोक्षमार्गप्रथमावयवभूत व्यवहार सम्यक्त्वं मुख्यवृत्या प्रतिपादयति।

इसमें निश्चय और व्यवहार साध्यसाधककी अपेक्षा दोनूं-मोक्षमार्ग बताया है—"सविकल्पनिर्विकल्पभेदेन निश्चयमोक्षमार्गो द्विधा"। अर्थात् निश्चयसे मोक्षमार्ग सविकल्प और निर्विकल्परूपसे दोय प्रकार है जिसको कांजी कहते हैं कि "पंचमहाव्रतको विकल्परूप निमित्त करूं तो चारित्र प्रगट हो यह मान्यता मिथ्या है" (वस्तुविज्ञानसार)

सबही आचार्योंने सरागचारित्र और वीतराग चारित्रके भेदसे दोप्रकारका चारित्र माना है और दोनूं चारित्र मोक्षमार्गमें अवस्थित हैं जिसमें निश्चय चारित्रको तो मोक्षमार्ग मानना और

व्यवहार चारित्रको संसारका कारण मानना यह जैनागमके प्रतिकूल है ऐसा कहने वाला कहांका दिगम्बरी है? जो दिगम्बर सिद्धांत की जडमें ही घुनका काम कर रहा है और जलदी ही दिगम्बर सिद्धांत को खतम करना चहाता है।

जहां ध्यान ध्याता ध्येयको न विकल्प बचभेद न जहां। चिद्भावकर्म चिदेश कर्ता चेतना क्रिया तहां। तीनूं अभिन्न अखिन्न शुद्ध उपयोगकी निश्चल दशा। प्रगटी जहां दृगज्ञानव्रत ये तीनधा एके लशा''।

इत्यादि जहां दशा होती हैं वहां पर निर्विकल्प समाधि कहो या निर्वृत्तिमोक्षमार्ग कहो अथवा निश्चय चारित्र कहो किन्तु इसके नीचेकी अवस्थामें तो सविकल्प समाधिका साधन या प्रवृत्तिमोक्षमार्गमें गमन अथवा व्यवहार चारित्रका (धर्मका) साधन करना ही पडता है इसके किये विना कोई गति नहीं है शुद्ध दशाकी प्राप्ति करनेके लिये पर वश लाचारी से कर इस व्यवहार चारित्रका आश्रय लेनाही पडता है किन्तु ''जो निमित्त या व्यवहार का अवलम्बन करते करते धर्म होना मानते हैं वे मिथ्यादृष्टि हैं ऐसा निश्चय जानना'' ऐसा कहने वालेको क्या कहना चाहिये। वह तो अपने कर्तव्य कर्मसे उदासीन ही है किन्तु ऐसे महात्मा भोले जीवों को भी अपने कर्तव्य कर्म (दान पूजादिषट्आवश्यककर्म) करनेसे वंचित रखते है ''अर्थात् वे आपडूबतो पांडियो ले डूबो जजमान'' वाली कहावत चरितार्थ कर

दिखाते हैं। जैनागमका तो यह सिद्धांत है कि अधर्मकी निवृत्ति करना, धर्ममें प्रवृत्ति करना अर्थात् व्यवहार धर्मके आश्रय अपनी आत्माकी शुद्धि करना यह प्रवृत्ति मार्ग नहीं है यह निवृत्ति मार्गही है क्योंकी आत्माको निवृत्तिकी तरफ लेजाने वाली प्रवृत्ति है। मोक्ष मार्गदोय ही हैं--एक प्रवृत्ति मार्ग एक निवृत्ति मार्ग अर्थात् एक संसार मार्ग और दूसरा मोक्ष मार्ग अतः मोक्ष मार्ग में जो प्रवृत्ति है वह निवृत्ति मार्ग है इसीलिये आचार्योंने इस निवृत्ति स्वरूप प्रवृत्ति मार्गका उपदेश दिया है अतः इस मार्गमें चलनेसे जीवोंका कल्यान है आचार्योंने प्रवृत्ति मार्गका उपदेश नहीं दिया है जो संसारका कारण है किन्तु जो अज्ञ मोक्ष मार्गमें प्रवृत्तिरूप दान पूजा तीर्थ यात्रादिकको प्रवृत्ति माग समझकर इनके करनेका निषेध करता है एवं इस प्रवृत्तिसे धर्म होता है ऐसा मानने वालोंको मिथ्यादृष्टि बताता है वह स्वयं मिथ्या-दृष्टि है क्योंकि यदि व्यवहार धर्म (दानपूजादि) संसारका कारण होता तो क्या आचार्योंने जीवोंको संसारमें रुलानेके लिये व्यवहार धर्म साधन करने का उपदेश दिया है? सर्वथा नहीं। उन्होंने तो संसारी जीवोंको हर तरहसे सुखी बनाने का ही प्रयत्न किया है किन्तु जो प्रवृत्ति और निवृत्ति मार्गके स्वरूप को नहीं समझता है वही जीव व्यवहार मोक्ष मार्गको प्रवृत्ति मार्ग मानकर उस मार्गमें गमन करनेसे वंचित रहकर वास्तविक

जो प्रवृत्ति मार्ग है उसके आश्रय संसार परिभ्रमण कर दुखी होता है।

शरीराश्रित क्रिया को प्रवृत्ति मार्ग समझना भारी भूल है शरीराश्रित क्रिया तो शुद्ध, शभ, अशुभ सबही होती है बिना शरीरके आत्मा कुछ भी नहीं कर सकता है मन, वचन, काय, ये तीनू ही योग शरीराश्रित ही है भाव मन है वह भी द्रव्यमनाश्रित है इसलिये शुद्ध स्वरूपका चिंतवन है वह भी शरीराश्रित है इसलिये शरीराश्रित क्रिया करकेही यह जीव संसार को पार कर सकता है अथवा शरीराश्रित क्रियासेती यह जीव संसारमें परिभ्रमण करता है अतः शरीराश्रित क्रियाको केवल संसार का कारण मान लेना महा मूर्खता है। जबतक पूर्ण निवृत्तिरूप मोक्ष अवस्था प्राप्त न होजायहै तबतक उस अवस्थाकी प्राप्ति के लिये जो प्रवृत्तिरूप शरीराश्रित क्रिया की जाती है वह सब क्रियायें निवृत्ति मार्गमें संमिलित है उसीको चाहे व्यवहार धर्म कहलो या चाहे आध्यात्मिक प्रवृत्ति कहलो अथवा निश्चय आत्म रुचि कहलो। क्यों कि आचार्योंने अध्यात्म शब्द की व्युत्पत्ति इसी प्रकार की है "आत्मनि अधि इति अध्यात्म" अर्थात् आत्माकी ओर अभिरुचीका होना उसीका नाम आध्यात्मिकता है और वह आत्मरुचि तबही होवेगी जबकि जीव और पुद्गलको भिन्न-भिन्न समझेगा और जो आत्माको और पुद्गलको भिन्न२ समझेगा वही जीव अपनी आत्माको पुद्गलसे भिन्न करनेकी क्रिया करेगा उसी क्रियाका नाम व्यवहार धर्म है उसी का नाम

तत्त्वज्ञान है, उसीका नाम आत्मरुचि है अतः आत्मरुचि करानेमें जो निमित्त कारण है वह भी सब निमित्त कारण आध्यात्मिक कहलाने के योग्य है जैसे देव, शास्त्र, गुरु आत्मरुचि कराने में प्रधान निमित कारण है इसलिये यह भी आध्यात्मिक है। अथवा आर्य प्रवृति पुनर्जन्मकी श्रद्धा भी अध्यात्मिकता है जिसको पुनर्जन्मकी श्रद्धा है वही जीव सम्यकदृष्टि है। उसकी आत्मापर आस्था है। जिसकी आत्मापर आस्था है वही जीव अपनी आत्मा को सुखी करनेके लिये व्यवहार चारित्र धारणकर निश्चय चारित्र में पहूँचकर अपनी आत्माको सुखी बना लेता है। किंतु जो केवल बिना चारित्र के आंख मीचकर गरदन हिला देता है अथवा समयसारादि ग्रंथों को पढता पढाता है और सुनाता है वह अपनी आत्माको वास्तविक सुखी नहीं कर सकता इसलिये इसका नाम आध्यात्मिकता भी नही है और न इसका नाम निवृत्ति मार्ग है अथवा न इसका नाम आत्मोन्नति भी है। किंतु जो आर्य प्रवृत्ति से लेकर अर्थात् पाक्षिक श्रावकसे लेकर तेरहवें गुणस्थान तक श्रेणी बद्ध जो प्रवृति है वह प्रवृत्ति निवृति रूप में परिणत होनेसे उस प्रवृतिको आध्यात्मिक प्रवृति समझनी चाहिये। किंतु इसके प्रतिकूल कांजी स्वामी यह कहते हैं कि "व्यवहार के आश्रय से मोक्ष मार्ग होना मानते हैं ऐसे जीव तो तीव्र मिथ्यादृष्टि हैं उनमें तो सम्यक्त्व होनेकी पात्रता ही नहीं हैं" आत्मधर्म अंक १ वर्ष६

कांजी की दृष्टि में व्यवहार धर्मके आश्रयसे मोक्ष मार्ग मान-

नेवाला तीव्र मिथ्यादृष्टि है और ऐसे जीवोंमें सम्यक्त्व उत्पन्न होनेकी पात्रता ही नहीं है। अतः उनकी दृष्टिमें दिगम्बराचार्य सबही तीव्र मिथ्यादृष्टि थे क्योंकि सबहीने व्यवहार मोक्षमार्ग प्रतिपादन कीया है और यही बताया है कि-बिना व्यवहार मोक्ष मार्गके निश्चय मोक्षमार्गही नही बनता इस बातको ऊपर दिखाया जा चुका है फिर भी प्रसंगवशात् बता देना उचित समझते हैं।

पं० दोलतरामजीने छह ढालामें लिखा है कि—

"सम्यग्दर्शनज्ञानचरण शिवमग दुविधि विचारो
जो सत्यारथ रूप सो निश्चय, कारण सो व्यवहारो।
परद्रव्य नितें भिन्न आपमें रुचि, सम्यक्त्व भला है
आपरूपको जानपनो सो सम्यग्ज्ञान कला है॥
आप रूप में लीन रहे थिर, सम्यक् चारित्र सोई
अब व्यवहार मोक्ष मग सुनिये, हेतु नियतको होई।
जीव अजीव तत्व अरु आश्रव बन्ध रु संवर जानो
निर्जर मोक्ष कहे जिन तिनको ज्यों को त्यों श्रद्धानो॥
है सोई समकित व्यवहारी अब इन रूप बखानो।

इसमें व्यवहार मोक्ष मार्गको निश्चय मोक्ष मार्गका कारण बताया है जो सत्यार्थ रूपका निश्चय सो निश्चय सम्यक्दर्शन है और सप्त तत्वका श्रद्धान सो व्यवहार सम्यक्त्व है ऐसा कहा है तो क्या पहिले सप्त तत्वोंका श्रद्धान हुये बिनाही अपने सत्यार्थ रूपका निश्चयरूप निश्चय सम्यक्त्व हो सकता है क्या? कदापि

नहीं। किंतु पहिले जीवादि तत्वों का स्वरूप समझ लेनेसे जीव के साथ कर्मोंका संयोग कैसे हुवा और दोनूके संयोग की अवस्था कैसी होती है इसको जान लेता है वही कर्मोंको दूरकरनेकी चेष्टा करेगा अन्यथा मिश्र अवस्था को जाने विना कौन किस प्रकार आत्मशुद्धि करेगा। जिन कारणोंसे कर्मोंका संयोग होता है उन कारणोंसे दूर रहना और जो पूर्व संयोग हुआ था उसको दूर करनेका उपाय करना इसकानाम व्यवहार धर्म है इसीका नाम आत्मधर्म है इसीका नाम आध्यात्मिकता है अतः विना व्यवहारमोक्षमार्गके निश्चय मोक्षमार्ग बनता ही नहीं। किन्तु जो बाह्य-तप नियम प्रतिमा रूप व्रत ग्रहणके महत्वको नहीं समझता है वही दुश्चरित्रको सच्चरित्रके शिरपर बिठलाता है अर्थात् वही महानतपस्वियोंको एवं आदर्श निवृत्ति मार्ग पर चलने वालों (प्रवृत्ति करने वालों) को तुच्छ हेय निन्दनीय और अवन्दनीय घोषितकर जनताके बलपर एवं अपने प्रचार और प्रचारकोंके बलपर आदर्श चरित्र और सिद्धांतकी छाती पर मूंग दलता है वह किस प्रकार आत्मध्यानी आध्यात्मिक हो सकता है? अर्थात् नहीं हो सकता किन्तु अपनेको महत्वशील और आदर्श बतलानेके लियेही अध्यात्मिकताका और तत्वज्ञानका जामा पहिनकर अपनी प्रभुता प्रगट करना चहाता है। ऐसे महापुरुष तत्वचरचामें चाहे बालकी खाल निकाललें तो भी विनाचारित्र शुद्धिके वह तत्वज्ञानी और अध्यात्मिक है ऐसा नहीं कहा जा

सकता है क्योंकि जो तत्वज्ञानी होगा उसके थोड़ा बहुत चारित्र अवश्य होगा ऐसा नियम है।

"ज्ञानशक्ति वैराग्य बल शिवसाधे समकाल।
ज्यों लोचन नारे रहैं निरखे हैं समकाल" ॥

समयसार

अतः देव नारकीयोंको और भोग भूमिके मनुष्य तथा भोग भूमिके तिर्यंचोंको छोडकर बाकीके मनुष्य तिर्यंचोंमें तत्वज्ञान जैसा थोडा बहुत चारित्र अवश्य होता ही है ऐसा नियम है अतः बिना चरित्रके केवल तत्वज्ञान हो ऐसी बात नहीं है क्योंकि ज्ञानकी स्थिरता चारित्रसे और ज्ञानका फलभी चारित्र ही है। फलके विना कोरा ज्ञान निष्फल है। कोरा ज्ञान कार्यकारी होता तो सर्वार्थ सिद्धिके देवोंकी सिद्धि हो जाती इसलिये विना चारित्रके कोरे ज्ञानकी कुछभी किम्मत नहीं है।

केवल समयसारादिद्रव्यानु योगके ग्रंथोंका ही अवलोकन कर अपनेको तत्त्वज्ञानी समझना स्पष्ट नास्तिकताका द्योतक है। क्योंकि केवल समयसारादि ग्रंथही अध्यात्मिक ग्रंथ नहीं हैं चारोंही अनुयोग समान रूपसे अध्यात्मिक ग्रंथ है द्वादशांगमय है इन चारो अनुयोगोंके बाहार द्वादशांग कोई दूसरी वस्तु नहीं है इन चार अनुयोगोंमें ही द्वादशांग द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव रूपमें गुथा हुआ है। हरएक वस्तुमें द्रव्य, क्षेत्र, काल, और भाव, रूप चार चतुष्टय पाये जाते है। हरएक वस्तु चार अंसोंमें विभाजित है।

अर्थात् हरएक वस्तुके चार २ अंश होते हैं।

"जैसे एक पाको आमफल तांके चार अंश,
रस, जालि, गुठली, छिलक, जब मानिये।
तब तो न बने पै ऐसे बने जैसे वह फल।
रूप, रस, गंध, फारस, अखंड प्रमानिये॥
तैसे एक जीवको दरव, चेत्र, काल, भाव।
अंश भेदकरि भिन्न भिन्न बखानिये।
द्रव्यरूप, चेत्ररूप, कालरूप, भावरूप चारूं।
रूप अलख अखंड सत्ता मानिये"।

समयसारां भाषा

अर्थात् वस्तुसे न द्रव्य अंश अलग है, न चेत्र अंश अलग है, न कालअंश अलग है, और न भाव अंश ही अलग है। अतः चारोंही अंशोंका समुदाय रूपही वस्तु है इनमें हीनाधिक समझकर एकका आदर करना और एकका निरादर करना भारी अज्ञानता है। वह वस्तु स्वरूपसे सर्वथा अनभिज्ञ है। यह इस कलिकालका ही महातम्य है कि जो दो अक्षरका ज्ञान हुआ या वागपटुता आई कि फिर वह अपनेको सर्वज्ञका दादा मानने लगता है। हमारी दि. समाजमें भी कतिपय विद्वान अपनेको बहुश्रुति समझकर आचार्योंके प्ररूपे ग्रंथोंको कुछ अंशोंमें जो अपनी समझके प्रतिकूल है उस अंशको मिथ्या ठहरानेकी भरसक कोशिश करते हैं। प्रथमानुयोगको तो वे केवल कथा कोष मानकर उनपर विकथाओंके समान श्रद्धा रखते हैं किन्तु वे

यह नहीं समझते कि श्रुतस्कंध भी एकवस्तु है उसके यह द्रव्य क्षेत्र काल और भावरूप चार अनुयोग हैं। द्रव्यानुयोग श्रुतस्कंधका द्रव्यअंश है। चरणानुयोग श्रुतस्कंधका भाव अंश है। करणानुयोग श्रुतस्कंधका क्षेत्र अंश है और प्रथमानुयोग श्रुतस्कंधका कालअंश है। इन चारूं अनुयोगोंका समुदायही श्रुतस्कंध है इन अनुयोगोंसे भिन्न कोई श्रुतस्कंध नहीं है और श्रुतस्कंधसे भिन्न कोई अनुयोग नहीं है इनका परस्परमें तादात्म सम्बन्ध है। द्रव्यानुयोग श्रुतस्कंधके द्रव्यांशका प्ररूपक है। चरणानुयोग श्रुतस्कंधके भावांश का प्रतिपादक है। करणानुयोग श्रुतस्कंधके क्षेत्रांशको प्रगट करने वाला है। और प्रथमानुयोग श्रुतस्कंधके कालांशको कहने वाला है। प्रथमानुयोगमें त्रेषट-शलाकादिमहापुरुषोंका जिसकालमें जो हुये उनका निरूपण है इस अनुयोगमें अंतकृतदशांग, अनुत्तरदशांग, तथा ज्ञातृकथांग एवं बारहवे अंगके पांच भेदोंमें प्रथमानुयोग भेदादि अंग विभाजित है। करणानुयोगमें समवायांग, सूत्र विपाकअंग आदि अंगोंका विभाग हुआ है चरणानुयोगमें आचारांग उपसकाध्ययनांग सूत्रकृतांग आदि अंग समाविष्ट हैं। द्रव्यानुयोगमें स्थानांग, व्याख्यान प्रज्ञप्ति आदि अंग समिलित है इस प्रकार चारूंही अनुयोगोंमें द्वादशांग बटा हुआ है।

इसलिये चारूंही अनुयोग द्वादशांग रूप होनेसे समान रूपसे आदरणीय हैं इनमें हीनाधिक एकभी नहीं है यह द्वादशांग

के चारूं अंशोंका अलग अलग प्रतिपादनकरने वाला है। इसलिये चारूंही समतुल्य हैं। वस्तु स्वरूप चारूंका समुदाय है इनमें हीनाधिक समझना अर्थात् केवल द्रव्यानुयोग को ही अध्यात्मिक समझकर उसका आदर करना और बाकीके अनुयोगोंको अध्यात्मिक न मानकर उनका निरादर करना उनकी तरफ उपेक्षा बुद्धि रखना यह तीव्र मिथ्यात्वका महातम्य है क्योंकि जीवका केवल द्रव्यांशही वस्तु स्वरूप नहीं है उसके क्षेत्र (प्रदेश) काल (स्थिति) भाव (औपसमिकादिभाव) भी अंश हैं अतः इनको मिलानेसे ही जीवका यथार्थ स्वरूप बनता है इसलिये चारों अनुयोगोंका अध्ययन करना परमावश्यक हैं। इसी बातका आदि पुराणमें समर्थन किया है—

"वेदः पुराणं स्मृतयश्चारित्रं च क्रियाविधिः।
मन्त्राश्च देवतालिंगमहाराद्याश्च शुद्धयः॥
एतेषां यत्र तत्वेन प्रणीताः परमर्षिणा।
स धर्मःस च सन्मार्गस्तदाभासाः स्युरन्यथा" ॥

अर्थात् जिस जीवकी गाढ श्रद्धा चारों अनुयोग रूपी वेदों पर है सब वेदों को प्रमाण भूत सत्य मानता है इनके एक अक्षर परभी जिसका सर्वथा संदेह नहीं है। पुराणों को जो जिनागम मानता है, स्मृतिशास्त्रों को आज्ञाविधाई शास्त्र समझता है (स्मृतिग्रंथों से संहिता ग्रंथ समझना चाहिये जो सर्वक्षेत्र सर्वकाल में अविच्छिन्न रूपसे नियमित रहता है) और जो चारित्र का

पालन करता है, तथा भोजन शुद्धि पिण्ड शुद्धि यज्ञोपवीत संस्कारादि क्रियाओंका पालन करता है, मंत्रसे शुद्धि करता है, देवशास्त्रगुरुका श्रद्धान करता है, वही धर्मको धारण करने वाला धर्मात्मा है, और वही सन्मार्गगामी है। जिसके उपरोक्त कार्योंका विचार नहीं है वह मिथ्यादृष्टि है। क्योंकि गणधर देवने उक्त समस्त आचरण धर्म रूप बतलाया है।

अतः इनमें अपने अनुकूल बातको मानना प्रतिकूल बातको न मानना बस यही मिथ्यात्वपने की बात हैं। क्योंकि किसीभी आगममें आत्महित के प्रतिकूल एक अक्षर भी नहीं कहा है फिर उसमें संदेह करनेकी गुंजायस भी क्या है तो भी मिथ्यात्वके उदय वस यह जीव मिथ्यात्वके उदयसे अपनी समझ आगमके प्रतिकूल बना लेता है।

चारूं अनुयोग आत्माका समान रूपसे कल्यान करने वाला है।

"प्रथमानुयोगमर्थाख्यानं चरितं पुराणमपि पुण्यम्।
वोधिसमाधिनिधानं बोधति: बोध समीचीन: " ॥

अर्थात् यह प्रथमानुयोग रत्नत्रय और समाधिका एवं ध्यानका खजाना है। तथा धर्म अर्थ काम और मोक्ष पुरुषार्थकी सिद्धिका करणहारा है। और एक पुरुषके य त्रेषट शलाके पुरुषोंके आश्रय पापपुण्यकी रचना दिखाने वाला ऐसा समीचीन पुन्य रूप प्रथमानुयोग है। इस अनुयोगका मनन करने

वाला जीवको अजर अमर समझता है, पापसे डरता है, पुन्य करनेमें लगता है, तीर्थंकरादि महापुरुषों के समान आत्मसिद्धि करनेके लिये उत्सुक होता है इस प्रकार प्रथमानुयोगकी स्वाध्याय करने वाला बोधि और समाधि को प्राप्त होता है इससे बढ़कर आत्महित और क्या होगा। ऐसा उपकारी अनुयोगको केवल कथारूप मानकर उस पर उपेक्षित बुद्धि रखना महान मिथ्यात्वके उदयका फल है।

इसी प्रकार करणानुयोग भी आत्माका महान कल्याण करनेवाला है इसमें प्रथमानुयोगमें बताये गये चारूं गतियोंके सुख दुखके स्थानोंका युगोंके परिवर्तनोंका चारूं गतियोंके स्वरूपका यथावत लोकालोकका विभाग करके दर्पणके समान दिखाया है जिसको समझकर यह जीव संसारसे भयभीत होकर मोक्षमार्गमें लगता है यह उपकार जीवोंका इस करणानुयोग शास्त्रोंकी स्वाध्याय करनेसे होता है इसकी उपेक्षा करना घोर अपराध है क्योंकि इस अनुयोगमें ही जीवकी अवस्था गुणस्थान मार्गणारूप निरूपण है कर्मोंका बन्ध सत्ताउदय उदीरणादि भेद प्रभेद सब इसी अनुयोगमें है इन सबका स्वरूपसमझ करही जीव अपना कल्याण कर सकता है अन्यथा नहीं इसलिये इस को दीपकके समान वस्तु स्वरूप दिखलाने वाला कहा गया है।

"लोकालोकविभक्ते युगपरिवृत्ते श्चतुर्गत्तिनांच।
आदर्शमिव तथामतिरवैति करणानुयोगंच" ॥

तथा चरणानुयोगके द्वाराभी आत्माका महान हित होता है चरणानुयोगही आचरण करने योग्य आचारोंके स्वरूपका भेद प्रभेद रूप निरूपण करता है उसको यह जीव समझकर अपनी शक्तीके अनुसार आचारको आचरण कर अपना कल्यान कर लेता है।

"गृहमे ध्यनगाराणयं चारित्रोत्पतिवृद्धि रक्षागंम् ।
चरणानुयोगसमयं सम्यग्ज्ञानं विजानाति" ॥

अर्थात् गृहस्थ और मुनियोंके चारित्रको उत्पत्ति और वृद्धि एवं रक्षणका अंग भूत चरणानुयोग शास्त्रको भले प्रकार सम्यग्ज्ञानीही जानता है मिथ्यादृष्टि नहीं जानता इसलिये वह गृहस्थों के और मुनियों के अणुव्रत एवं महाव्रत रूप व्यवहार चारित्रके धारण करनेको मिथ्यात्व समझता है। वह कभीभी आत्म कल्यान नहीं कर सकता, आत्म कल्यान वही कर सकता जो चारू अनुयोगों के विषय को समझकर चारू अनुयोगों को प्रमाण भूत मानकर चारू अनुयोगोंके अनुसार अपनी प्रवृत्ति करता है।

प्रथमानुयोगद्वारा प्रशम गुण प्रगट होता है। करणानुयोग द्वारा संवेग भावना जागृत होती है संसारके स्वप-को समझकर संसारसे भयभीत होकर संसारसे पार होनेकी भावना करता है।

चरणानुयोगके द्वारा जीवके अनुकम्पानाम गुण प्रगट होता है जिससे वह अपनी आत्मापर दयादृष्टि रखता हुआ हर-

इस यह भावना करता है कि मेरी आत्मा किसी प्रकार दुखी न हो इसलिये वह चारित्रकी रक्षा करता हुआ चारित्रकी वृद्धि करता है जिससे अपनी आत्मा सुखी बनी रहे।

द्रव्यानुयोगके द्वारा जीवके, आस्तिक्य नामा गुण उत्पन्न होता है अर्थात् जीवाजीवादि तत्वों को भलीभांति जान लेता है फिर वह कभी विचलित नहीं होता, जीवाजीवादि तत्वों पर उसकी दृढ आस्था हो जाती है इसलिये द्रव्यानुयोगके विषय में आचार्य कहते हैं कि—

जीवाजीवसुतत्त्वे पुण्यापुण्ये च बन्धमोक्षौ च।
द्रव्यानुयोगदीपः श्रुतविद्यालोकमातनुते ॥"

अर्थात् द्रव्यानुयोग रूपी दीपक जीवअजीवरूपी सुतत्त्वोंको पुण्यपापको और बन्ध मोक्षको अच्छी तरह दिखाता हुआ भावश्रुतरूपी प्रकाशको विस्तारता है। सारांश यह है कि द्रव्यानुयोगरूपी दीपक द्वारा जीवाजीवादि पदार्थोंका सम्यकप्रकार अवलोकन होजानेसे इन पदार्थों पर दृढ श्रद्धा जम जाती है। यह इस अनुयोग द्वारा आत्माका हित होता है।

आचार्यों ने सम्यक्त्वके जो चार लक्षण बताये हैं प्रशम, संवेग, अनुकम्पा, और आस्तिक्य, यह चारों ही लक्षण इन चारू ही अनुयोगों में घटित हो जाते हैं अर्थात् प्रथमानुयोग से प्रशम, करणानुयोगसे संवेग, चरणानुयोगसे अनुकम्पा, द्रव्यानुयोगसे आस्तिक्य, नामा सम्यक्त्वका गुण प्रगट होता

है दृढ होता है इसलिये चारू ही अनुयोगोंको क्रमशः प्रशम, संवेग अनुकम्पा और आस्तिक्यरूप कहा जाय तो कोई दोषापत्ति नहीं आती क्योंकि कारणमें कार्यका उपचार करके ऐसा कहा जासकता है।

जिस प्रकार सम्यक्त्व के प्रशम संवेग अनुकम्पा और आस्तिक्यरूप चारों अनुयोग है उसीप्रकार धर्मध्यानके भी चारों भेदरूप चारों अनुयोग हैं अर्थात् आज्ञाविचय धर्मध्यानरूप प्रथमानुयोग है। इसमें भगवानकी आज्ञा ही प्रधान है। रामरावणादि अमुक समयमें हुये उन्होंने ऐसे ऐसे कार्य किये उन कार्योंके निमित्तसे उन्होंने यह फल पाये इत्यादि कथासे ही प्रमाण किया जाता है। इसको प्रमाणित करने में दूसरा कोई साधन नही है इसलिये इसको आज्ञाविचय कहा जासकता है। किंतु हमारे कतिपय विद्वान् प्रथमानुयोग के कथनको आज्ञारूप नहीं मानते उनको यह मालुम नहीं है कि हाईकोर्टकी नजीरही कानून समझी जाती है । उसीप्रकार प्रथमानुयोगके उदाहरण सर्वज्ञदेवके हाईकोर्टका फैसला है अर्थात् जिसने जैसा कार्य किया उसने वैसा फल पाया इसलिये यह कानून बनगया कि ऐसा कार्य और भी जो कोई करेगा तो उसको वैसा फल मिलेगा इसमें हेरफेर होनेका नहीं है । फिर भी इसके उदाहरणों को कानून रूप न समझना भारी अज्ञानता है। अन्य अनुयोग तो इनके उदाहरणों की पुष्टि करते हैं, जैसे रावण परस्त्री हरणकर युद्ध में कुमरण कर नर्क गया।

यह नर्क कहां पर है, वहां पर कैसा कैसा दुख है इसबात को करणानुयोग बतलाता है तथा परस्त्रीगामी कुमरण करने वाला नर्क जाता है इसबातकी पुष्टि चरणानुयोग करता है। द्रव्यानुयोग उसके विपाक को बताता है इसतरह प्रथमानुयोग के विषयकी करणानुयोग, चरणानुयोग, द्रव्यानुयोग पुष्टि करते हैं इसलिये प्रथमानुयोग प्रथमरूप है इसकी आज्ञा मानने से आज्ञाविचय धर्म ध्यान होता है। चरणानुयोगके द्वारा जीवों के कल्याणका मार्ग दिखलाया जाता है इसलिये चरणानुयोगसे अपायविचय धर्मध्यानकी सिद्धि होती है। कर्मोंके विपाक का स्वरूप द्रव्यानुयोग से जाना जाता है अतः द्रव्यानुयोगसे विपाक विचय धर्मध्यानका सम्बन्ध है। इसीप्रकार करणानुयोगसे संस्थानविचय धर्मध्यान बनता है अर्थात् तीन लोकके स्वरूप का पिंडस्थ पदस्थ आदि ध्यानोंका चिंतवन इस अनुयोग द्वारा सुसिद्ध होता है इसलिये यह अनुयोग संस्थानविचय धर्मध्यान स्वरूप है। सारांश यह है कि इन चारों अनुयोगोंकी स्वाध्याय करने से जिस प्रकार प्रशम संवेग अनुकम्पा और आस्तिक गुण प्रगट होता है उसीप्रकार इन अनुयोगों की स्वाध्याय करनेसे आज्ञाविचय, अपायविचय, विपाकविचय, संस्थानविचय धर्मध्यानकी सिद्धि भी होजाती है इसलिये यह चारों अनुयोग जिसप्रकार सम्यक्त्वरूप हैं उसीप्रकार चारों अनुयोग धर्मध्यान स्वरूप भी हैं। जिसप्रकार प्रशमके विना संवेग, अनुकम्पा और आस्तिक्य नहीं हो सकता उसीप्रकार आज्ञाविचय धर्मध्यानके

विना अपायविचय विपाकविचय, और संस्थान विचय, धर्म ध्यान भी नहीं हो पाता इसी तरह प्रथमानुयोगके विना करणानुयोग चरणानुयोग और द्रव्यानुयोग, सवशून्य हैं एके विना सब विन्दी है कारण यह है कि जिस प्रकार वस्तुके द्रव्य क्षेत्र काल और भावरूप चार अंशोंमें एकभी अंश वाद कर दिया जाय तो वस्तु वस्तुही नहीं रहती उसीप्रकार श्रुतस्कंधके द्रव्य क्षेत्र काल और भावरूप चार अनुयोग है उनमेंसे एक अनुयोग को वाद दे दिया जाय तो श्रुतस्कंधका ही विघात होजाता है इसलिये चारू अनुयोगोंका समानरूपसे समादर करना सम्यग्ज्ञान कहलाता है क्योंकि इन चारू ही अनुयोगोंमें आत्मचरचा के अतिरिक्त और कुछभी नहीं हैं इसलिये चारूही अध्यात्मिक हैं अतः इनमें एकभी अनुयोगकी वात तो बहुत मोटी है किन्तु किसी एक अनुयोगके एक अक्षर वा एक पद भी न माननेवाला मिथ्यादृष्टि है ऐसी जिनागमकी आज्ञा है।

"पदमक्खरं च एकं वि जो ण रोचेदि सुत्तणिद्दिट्ठं।
सेसं रोचंतो वि य मिच्छाइट्ठी मुणेयव्वो ॥"

इसलिये चारों अनुयोगोंको समानरूपसे अध्यात्मिक न मानकर जो केवल समयसारादि द्रव्यानुयोगके ग्रंथोंको ही अध्यात्मिक मानता है वह नास्तिक है; मिथ्यादृष्टि है, प्रथम तो सर्वसाधारणके लिये ऐसे सिद्धांत ग्रंथोंका पठन पाठन भी मना है—

"आर्यिकाणां गृहस्थानां शिष्याणामल्पमेधसाम् ।
न वाचनीयं पुरतः सिद्धान्ताचारपुस्तकम् ॥"

यदि सिद्धांत शास्त्रों को कोई पढे भी तो सिद्धांत शास्त्रोंके जो ज्ञाता हैं उनके समक्ष पढकर उसका अर्थ अवधारण करें अन्यथा बनारसीदासजीकी सी अवस्था होजाती है इसलिये ऐसे ग्रंथों को यदि कोई पढे तो इसके ज्ञाताओं के पास पढे तो वह इसका यथार्थ अर्थ समझ सकता है अन्यथा निश्चयाभासी बन जाता है जैसाकि कांजी बन चुके। व्यवहार को सर्वथा हेय मानकर सबको स्वच्छंद निरर्गल बना दिया है। कांजीके जितने भक्त हैं इनमें अधिकांश भक्त दान पूजा यात्राको जलांजलि दे चुके हैं जो करते हैं वे संसारका ही कारण मानकर लोक लाज से या दवावसे करते हैं वे मोक्षमार्ग समझकर नहीं करते। वर्तमान समयमें यथाख्यात चारित्रका अभाव होनेसे सर्वोत्कृष्ट अध्यात्मिकता शुक्लध्यान रूप है वह तो कोई पा नहीं सकता क्योंकि यह ज्ञानका विषय नहीं है जो ज्ञानके द्वारा सर्वोत्कृष्ट अध्यात्मिकता प्रगट करली जाय। यह चारित्रका विषय है विना चारित्र केवल पढनेसे केवलज्ञानकी प्राप्ति नहीं होती और विना केवल ज्ञानके पूर्णवीतरागता प्राप्त नहीं होती विना पूर्णवीतरागताके पूर्ण आत्मस्वभावकी प्राप्ति नहीं होती इसलिये इसकालमें पूर्ण अध्यात्मिकता तो मिलने की ही नही। धर्म ध्यान रूप थोडी बहुत आध्यात्मिकता कोशिश करने पर प्राप्त हो सकती है

जिसका निषेध किया जारहा है। पुन्य बन्धका कारण बताकर मोक्षमार्गमें इसकी उत्थापना बतलाई जारही है देखो—

आत्मधर्म अंक १२ वर्ष ६

"परन्तु उन निमित्त या व्यवहारके आश्रयसे किसी प्रकार का धर्म होता है इस वातकी उत्थापना होती है" ऐसा कांजीका कहना है। अतः व्यवहार धर्मका कांजी सर्वथा लोपक हैं। किन्तु व्यवहारके विना निश्चय है कहां ? कुन्दकुन्द स्वामी कहते हैं कि निश्चय और व्यवहार रूप जो रत्नत्रय है उसको जो नहीं जानता है वह मिथ्यादृष्टि है।

"णिच्छयववहारसरूवं जो रयणत्तयं ण जाणइ सो।
जं कीरइ तं मिच्छारूवं सव्वं जिणुद्दिट्ठं॥"
संस्कृत-निश्चय व्यवहारस्वरूपं यो रत्नत्रयं न जानाति
सः यत्करोति तन्मिथ्यारूपं सर्वं जिनदृष्टं॥"

कुन्दकुन्द स्वामी कहते हैं कि इस अवसर्पिणीकालमें भरत-क्षेत्रमें प्रमादरहित धर्मध्यान होता है ऐसा जिनेन्द्र भगवानने कहा है किन्तु इसको जो नहीं मानता है वह मिथ्यादृष्टि है—

"अज्जवसप्पिणभरहे धम्मज्झाणं पमादरहिदुत्ति।
जिणुदिट्ठं ण हु मण्णइ मिच्छादिट्ठी(हवे)सो(हु)"॥
टीका—अद्यावसर्पिणीभरते धर्म्यध्यानं प्रमादरहितमिति।
जिनदिष्टं न हि मन्यते मिथ्यादृष्टिः भवेत् स हि"॥रयणसार

इसलिये आचार्य कहते हैं कि इस अवसर्पिणी दुषम कालमें भरतक्षेत्रमें सम्यक्त्वपूर्वक सागार और अनगारधर्म अर्थात् श्रावक और मुनिधर्म दुर्लभ हैं किन्तु मिथ्यात्व सहित ये सुलभ हैं

"अज्जवसप्पिणीभरहे दुस्समया मिच्छपुव्वया सुलहा
सम्मत्तपुव्वसायारणयारा दुल्लहा होंति ॥"

टीका—अद्यावसर्पिणीभरते दुःषमायां मिथ्यात्वपूर्वकाः सुलभाः।
सम्यक्त्वपूर्वकाः सागारानगारा दुर्लभा भवन्ति" ॥

रयणसार

इसका कारण यह है कि इस अवसर्पिणीकालमें भरतक्षेत्र में प्रचुर रौद्र आर्तध्यान ही देखा जाता है वह दुष्ट है पापिष्ट है नष्ट भ्रष्ट भई है बुद्धि जिसकी और कष्टों को सहन करता है। कृष्ण नील, कापोत, लेश्याका धारक है।

"अज्जवसप्पिणिभरहे पउरा रुद्दझाणयादिट्ठा।
णट्ठा दुट्ठा कट्ठा पापिट्ठा किण्हणीलकाओदा ॥"

टीका—अद्यावसर्पिणीभरते प्रचुरा रुद्रार्तध्यानादृष्टाः।
नष्टा दुष्टाः कष्टाः पापिष्टाः कृष्णनीलकापोताः" ॥रयणसार

कांजी स्वामी तो पुण्यबन्धके कारणों का निषेध करते हैं किन्तु कुन्दकुन्द स्वामी पुन्य बन्धके कारणों—निमित्तों के करने का उपदेश देते हैं कि जिनेन्द्रदेव सब जीवों के हितके लिये कहते हैं कि ज्ञानी जीवोंको पापारंभमें निवृत्ति और पुन्य रूप धर्म ध्यानमें प्रवृत्ति करना चाहिये।

"पापारंभनिवृत्तिः पुरायारंभे प्रवृत्तिकरणमपि ।
ज्ञानं धर्म्यध्यानं जिणभणियं सर्वजीवानां ॥

टीका—"पापारंभनिवृत्तिः पुरायारंभे प्रवृत्तिकरणमपि ।
ज्ञानं धर्म्यध्यानं जिणभणियं सर्वजीवानां" ॥ रयणसार

कुन्दकुन्द स्वामी दर्शनप्राभृतमें कहते हैं कि जिनवर देवने जो जीवादितत्वों का व्यवहार सम्यक्त्वका रूप निरूपण किया है उसका जो श्रद्धान करता है वह आत्मा निश्चयसे सम्यक् दृष्टि है।

"जीवादी सद्दहणं सम्मत्तं जिणवरेहिं पराणत्तं ।
ववहारा णिच्छयदो अप्पाणं हवइ सम्मत्तं ॥"

टीका—जीवादीनां श्रद्धानं रूचिः सम्यक्त्वमिति जिनवरैः प्रणीतं तत्तु सम्यग्दर्शनं व्यवहारात् ज्ञातव्यं निश्चयतो निश्चयनयादात्मैव भवति सम्यक्त्वं रुचिसामान्यत्वादित्यर्थः।

भावार्थ—इस प्रकार जो जिनेन्द्रके वचनों में श्रद्धानकर उनमें जो भक्ति करता है वह अकेली भक्तिही मोक्ष सुख को प्राप्त करा देती है। जिसको कांजी पुन्य बन्ध कहकर संसारका कारण बताते हैं।

"एकापि समर्थेयं जिनभक्तिर्दुर्गतिं निवारयितुं ।
पुरायानि च पूरयितुं दातुं मुक्तिश्रियं कृतिनः ॥"

अर्थात् जिनेन्द्रकी जो भक्ति है सो भी व्यवहार ही है इस

व्यवहारसे सम्यक्त्व की प्राप्ति संसार के दुखका नाश और मोक्ष सुख की प्राप्ति होती है इस बातको पहिले दिखाया जा चुका है अतः व्यवहारसे धर्मका लाभ कुछभी नहीं होता ऐसा कहना अनर्थका मूल है क्योंकि इससे व्यवहार धर्मका लोप होता है और स्वच्छंद प्रवृत्ति का पोषण होता है।

आचार्य व्यवहारकी पुष्टि करते हुये भक्ति मार्गका निरूपण कर कहते हैं कि पतिभक्ति विहीना सती अथवा सेवक तथा जिनागमकी भक्तिविहीन यति और गुरुकी भक्ति रहित शिष्य नियम से दुरगतिका पात्र है।

जिस प्रकार ऊपर भूमिमें वोया हुआ वीज कुछ भी फल-दायक नहीं है प्रत्युत वह वीज स्वयं नष्ट हो जाता है उसीप्रकार सर्वसंगत्यागी (निः परिग्रह) साधु यदि गुरु भक्ति रहित है तो उस का सर्व अनुष्ठान निष्फल है चाहै वह अनुष्ठान अंतरंग भावों से ही क्यों न करता हो इसका कारण यह है कि जैसे प्रधानके विना राजा नष्ट हो जाता है राजाके विना देश नष्ट हो जाता है उसी प्रकार गुरु भक्ति विना शिष्यका सर्व अनुष्ठान नष्ट हो जाता है।

इसलिये आचार्य कहते हैं कि सनमानके विना रुचि, भक्ति के विना दान, दयाके विना धर्म, गुरु भक्ति विना तपचारित्र सब निष्फल हैं ऐसा समझो। यह सब कुन्दकुन्द स्वामीकेही वचन हैं। क्या इन वचनोंको कांजीने मानकर कभी किसीको गुरु

मानकर उनको नमस्कारादि कर उनकी विनयादि भक्ति की है ? क्या वे ही सबके जगत गुरु है ? अपनेको अव्रती बताकर भी व्रतीयोंको नमस्करादि नहीं करना और अपनेको पूज्य गुरु-देवाय कहलाकर नमस्कार कराना क्या यह सम्यक्त्वीका चिह्न है

यदि यहांपर कोई कांजीका भक्त यह कहै कि कांजी स्वामी थोडे ही कहते हैं कि मुझे पूज्य गुरुदेव कहो और नमस्कार करो यह तो भक्तोंकी भक्ति है। इसमें कांजीस्वामीका क्या दोष है। बात तो ठीक जंचती है कांजीका इसमें विशेष कुछ दोष नहीं है दोष सिर्फ इतनाही है कि अव्रत अवस्थामें भी पूज्य गुरु देव कहलाकर नमस्कार करानेका लोभ है इसलिये मायाचारी-कर नमस्कार करने वालों को मना नहीं करते कि मेरा पदस्थ नमस्कार कराने योग नहीं इस मायाचारीकाफल तिर्यंचयोनी है" माया तैर्यग्योनस्य" ऐसा सूत्रकार का कहना है। पद्मपुराणजी में त्रिलोकमंडनहाथीके पूर्न भवके वरणनमें यह बात बतलाई है कि इस हाथीका जीव पूर्व भवमें मुनि था पर इसने यह माया-चारी की कि एक अन्य मुनि मासोपवासी उग्रतपस्वीके बदले इनको लोग वह मुनि समझकर बडी भक्तिके साथ इनको आहार दिया किन्तु इसने यह नहीं कहा कि वे मुनि मैं नहीं हूं इसने देखा कि चलो उनके बदले मेरी प्रशंसा हो रही है इसमें मेरा क्या बिगडता है ऐसा समझकर चुप रहे चुपकी का फल उनको यह मिला कि उन्हें हाथी होना पडा। इस बातको क्या कांजी

नहीं जानते हैं ? जो चुपचाप पूज्य गुरुदेवाय नमः कहलाते हैं। खैर ! इसका फल जब मिलेगा तब देखा जायगा अभी तो मठाधीस बनकर कांजी स्वामी कहलाते ही हैं।

विचार करने की बात है कि जब निमित्तसे और व्यवहारसे कुछ भी लाभ नहीं होता है ऐसा जो कांजीका फरमांना है तब कांजी अपने पास आने वालों को निषेध क्यों नहीं करदेते कि मेरे पास आने की जरूरत नहीं क्योंकि उनके पास जाने वालों को लाभ तो कुछ होगा ही नहीं जबकि निमित्त से लाभ नहीं होता यदि उनके पास जाने वालों को उनकी देशना सुनने से लाभ होता है तो फिर कांजी का यह कहना मिथ्या सिद्ध हो जाता है कि निमित्त से और व्यवहार से कुछ भी लाभ नहीं होता फिर इनसे लाभ होना मानने वाले मिथ्यादृष्टि हैं।

जब कानजी यह मानते हैं कि जीव सदा शुद्ध सिद्धों के समान अजर अमर है तब हिंसाके निमित्तसे चोरीके निमित्तसे झूठके निमित्तसे कुशीलसेवनके निमित्त से इत्यादि निमित्तसे जीवका कुछ भी बिगाड़ नहीं होना चाहिये। यदि इन निमित्तों से जीवका बिगाड होता है तो इन निमित्तों का त्याग करनेसे और अच्छे निमित्तों के मिलाने से लाभ भी होता है ऐसा स्वतः सिद्ध हो जाता है फिर यह कहना कि निमित्त और व्यवहारसे कुछ भी लाभ नहीं होता सो मिथ्या है।

हरएक पदार्थकात्याग और ग्रहण अंतरंग भावोंसे और

वहिरंग मन वचन-कायसे होता है इसलिये व्रत और अव्रत दोनों ही वाह्याभ्यन्तर रूप होता है एक रूप नहीं होता इसका कारण यह है कि जीव और पुद्गल का अनादि कालसे निमित्त नैमित्तिक सम्वन्ध है दोनों ही साझे की दुकान मांड रखी है जबतक इनका साझा है तबतक ये दोनों ही एक साथ काम करते हैं। जिस प्रकार साझे की दुकानमें एक साझीदार को अच्छा या बुरा जोभी काम करना है, उसका फल दूसरे साझीदार को भी भोगना पड़ता है उसी प्रकार जीव और पुद्गल (शरीर) की संसार परिभ्रमण करने की साझे की दुकान है इसलिये जीव या शरीर दोनों में एक भी यदि कोई अच्छा या बुरा कार्य करता है तो उसका फल दोनों को समान रूप से भोगना पडता है ऐसा नहीं कि शरीराश्रित क्रिया का अच्छा या बुरा फल जीव को न भोगना पडता हो या जीवके अच्छे या बुरे परिणामों का फल शरीर को अच्छा या बुरा न भोगना पडता हो किन्तु दोनों को ही भोगना पड़ता है यह सुनिश्चित वात है इसलिये आचार्यों ने व्रतों का स्वरूप वाह्य और अभ्यन्तर के हिसाब से दो तरह का निरूपण किया है उसको चाहे व्यवहार और निश्चय कहलो इसका भी कारण यह है कि सावद्य का त्याग अंतरंग और वहिरंग दोनों तरह से किया जाता है जैसे कि अन्तरंग परिग्रह और वहिरंग परिग्रह दोनों प्रकार के परिग्रह का त्याग करने से व्रती बनता है खाली वाह्य परिग्रह का त्याग करदेने से

व्रती नहीं होता अथवा खाली अन्तरंग परिग्रह का त्यागरूप भाव होने से व्रती नही बनता उसको चाहे उदासीन पाक्षिक श्रावक कहलो वाह्य परिग्रह का त्याग हुये विना अन्तरंग परिग्रह का त्याग होता नहीं यह नियम है क्योंकि अन्तरंग में परिग्रह का त्याग होजाने पर वाह्य परिग्रह बना रहै यह बात असंभव है। वाह्य परिग्रह का त्याग करदेने पर भी अन्तरंग मूर्छा तो बनी रह सकती है किन्तु अन्तरंग मूर्छा दूर होने पर वाह्य परिग्रह लदा रहै यह बात नहीं बनती। क्योंकि अन्तरंग परिणामों का असर वाह्य प्रकट हुये विना नहीं रहता। जैसे अनंतानुवन्धी की चौकडीके अभाव में वाह्य परपदार्थों में अहंबुद्धि नहीं होती इसलिये अन्याय रूप प्रवृत्ति का उसके अभाव हो जाता है और वह न्याय रूप प्रवृत्ति करने लग जाता हैयह अन्तरंग परिणामों का वाह्य कार्य है इसके वाद जब अप्रत्याख्यानावर्ण की चौकडी का अभाव होता है तब एक देश वाह्य संयम धारणकर व्रती श्रावक बन जाता है। फिर प्रत्याख्यानवरण चोकडीके अभावमें सकल संयम अर्थात् मुनिव्रत धारणकर सकल वाह्यपरिग्रह का त्याग कर देता है। और संज्वलन कषाय की चोकडीके और नो नोकषायके अभावमें यथाख्यात चारित्र प्रगट हो जाता है यहां पूर्ण वीतरागता हो जाती है।

चौथे गुणस्थान में मिथ्यात्व और अनंतानुबन्धी चोकडी का अभाव होजाने से वीतरागता का प्रादुर्भाव होकर वारहवें

गुणस्थान के अन्तमें पूर्ण वीतरागता प्रगट हो जाती है अर्थात् चोथे गुणस्थानसे या चोथे गुणस्थान के सन्मुख जीवके अध्यात्मिकता का प्रारंभ होकर बारहवें गुणस्थानके अन्तमें पूर्ण अध्यात्मिकता प्रगट हो जाती है।

सारांश यह है कि ज्यों ज्यों कषाय अंतरंगमें घटती जाती है त्यों त्यों साथमें बाह्यचारित्र की भी वृद्धि होती जाती है इस सिद्धांतके अनुसार जिसके अप्रत्याख्यानावर्ण कषाय की चोकड़ी का उदय है वह अव्रती है उसके एक देश अध्यात्मिकता भी प्रगट नहीं हुई है ऐसा मानना पडेगा क्योंकि अध्यात्मिकता के साथ बाह्यचारित्रका सम्बन्ध है ऐसा नियम है इस बातको पहिले दिखा चुके है जिसके अंतरंगमें जितनी अध्यात्मिकता है उसके उतना ही बाह्यमें चारित्र प्रगट होता है अंतरंगकी चीज बाह्यचिन्हों से ही दिखाई देती है अन्यथा नहीं इस बातको कुन्द कुन्द स्वामी भी भाव प्राभृतमें बतलाते हैं कि परमार्थ भूत प्रथम भावलिंग ही है भाव ही स्वर्ग मोक्षका कारण है भावही नर्कादिगतियों का कारण है जबकि द्रव्यलिंगके साथ भावलिंग हो च शब्दसे यह भी सूचित किया हैं कि द्रव्यलिंग ही भावलिंग को प्रगट करता है विना द्रव्यलिंगके भावलिंग दृष्टि गोचर नहीं होता ऐसा टीका कारने स्पष्ट किया है—

"भावं पढमलिंगं ण द्रव्यलिंगं च जाण परमत्थं।
भावो कारणभूदो गुणदोषाणं जिणा विंति" ॥

टीका—भावश्च प्रथमलिंगं दीक्षाचिन्हभावो भवति चकारा-द् द्रव्यलिंगं धृत्वा भावलिंगं प्रकटं क्रियते यथाऽपत्योत्पादनेन पुरुषशक्तिः प्रगटीभवति तथा द्रव्यलिंगिनो मुनेर्भावलिंगं प्रगटं भवति पुरुषशक्तेर्भावस्य च लोचनानाऽगोचरत्वात्।

फिर टीकाकार कहते हैं कि भावलिंगके बिना केवल द्रव्य-लिंगसे परमार्थकी सिद्धि नहीं होती यह बात सही है इसी बात को पं० दौलतरामजी ने छहढालामें भी कहा है—

"मुनिव्रत धार अनन्तवार ग्रिवक उपजायो।
पै निज आतम ज्ञान विना सुख लेश न पायो॥"

टीकाकारने यह भी बताया है कि गृहस्थावस्थामें भी भावलिंग हो जाता है ऐसा मानने वाला मिथ्यादृष्टि है वह जिनलिंगका विद्वेषी है और व्यवहार धर्मका लोपक है इसलिये वह दण्डनीय है।

टीका—"द्रव्यलिंगे सति भावं विना परमार्थसिद्धिर्न भवति तेन कारणेन द्रव्यलिंगं परमार्थ सिद्धिकरं न भवति मोक्षं न प्रापयति तेन कारणेन द्रव्यलिंगपूर्वकं भावलिंगं धर्तव्यमिति भावार्थः। ये तु गृहस्थवेषधारिणोऽपि वयं भावलिंगिनो वर्तामहे दीक्षायामन्तर्भावत्वात्ते मिथ्यादृष्टयो ज्ञातव्या विशिष्टजिनलिंग-विद्वेषित्वात् योद्धुमिच्छवः कातरवत्स्वयं नश्यंति अपरानपि नाशयन्ति ते मुख्यव्यवहारधर्मलोपकत्वाद्विशिष्टैर्दण्डनीयाः भावः परममुक्तिकारणभूतः गुणानां केवलज्ञानादीनां दोषाणां

नरकपातादीनां च कारणभूतो भाव एव। यदि द्रव्यलिंगं धृत्वा रागद्वेषमोहादिषु पतितो मुनिस्तदा स तस्य भावः संसारकारणं भवति। यदि द्रव्यलिंगं धृत्वा नीरागनिर्मोहभावानां भावयति तदाकेवलज्ञानादीन् गुणानुत्पादयति मुक्तिं गच्छति एतदर्थं केवलिनो जानन्ति"

इस विषयमें आचार्य फिर भी कहते हैं कि भावलिंगकी विशुद्धि का निमित्त कारण द्रव्यलिंग है किन्तु अंतरंग परिणाम अशुद्ध है परिग्रह युक्त है तो वाह्य वस्त्रादिकका त्याग करना विफल है।

"भाव विशुद्धि निमित्तं वाहिरग्रंथस्स कीरए चाओ ॥
वाहिरचाओ विहलो अब्भन्तरगंथजुत्तस्स ॥"

टीका—भावस्यात्मनो विशुद्धिनिमित्तं कारणं वाह्यग्रंथस्य क्रियते त्यागः वस्त्रादेर्मोचनं विधीयते। वाह्यत्यागो विफलोऽन्तर्गडुर्भवति अभ्यन्तरपरिग्रहयुक्तस्य नग्नस्यापि वस्त्रादेराकांक्षा युक्तस्येति भावः तथा चोक्तं।

"वाह्यग्रंथविहीना दरिद्रमनुजाः स्वपापतः सन्ति।
यः पुनरन्तः संगत्यागी लोके सदुर्लभः साधुः ॥"

अर्थात्—दरिद्र मनुष्य तथा समस्त पशु पक्षी नग्न ही फिरते हैं उनके पास वाह्य परिग्रह कुछ भी नहीं है परन्तु अंतरंगमें तन्दुल मच्छकी तरह खोटे भाव रखते हैं तन्दुल मच्छ यद्यपि शरीरसे न हिंसा ही करता है न झूठ भी बोलता है और न विषय ही

सेवन करता है क्योंकि वह नपुंसक है तथा परिग्रह भी उसके पास कुछ भी नहीं देखने में पूरा महाव्रती है किन्तु अंतरंग परिणाम सदा हिंसक रूपही रहता है जब महा मच्छ मुंह फाड़कर सो जाता है तब उसके स्वासों स्वाससे अनेक जंतु उसके मुंहमें आते जाते रहते हैं उस समय वह तंदुल मच्छ मनमें कहता है कि देखो यह महामच्छ कितना मूर्ख है जो मुंहमें आये भक्षको नहीं भक्षण करता है मेरा शरीर यदि इतना बडा होता तो मैं समुद्रमें एकभी जीवको नहीं छोडता सबको भक्षण कर जाता ऐसा मनमें विचार करता रहता है अथवा जब वह महा मच्छ जागृत अवस्थामें जीवोंका भक्षण करता है तब वह तन्दुल मच्छ मनमें बडा खुशी होता है और मनमें कहता है कि इसने यह बहुत अच्छा काम किया इस तरह उसकी अनुमोदना करता है इसी पापके कारण वह तन्दुल मच्छ भी सातवें नर्क जाता है इसलिये अंतरंग शुद्धिके बिना केवल वाह्य परिग्रहका त्याग करना त्याग नहीं कहलाता यह बात सत्य है तथापि यह बातभी सत्य है कि बिना वाह्यपरिग्रहके त्याग किये अंतरंग विशुद्धि भी नहीं होती इस बातको हम अच्छीतरह सप्रमाण पहिले दिखला चुके हैं इसलिये व्यवहारसे और निमित्तसे कुछ लाभ नहीं होता ऐसा मानना भारी भ्रम है जब वाह्य ग्रंथोंके त्याग किये बिना अंतरंग परिणाम विशुद्ध नहीं होते तब इससे बढकर व्यवहार और निमित्तसे और कौनसा लाभ होना चाहते हैं जो व्यवहार और

निमित्तसे कुछ भी लाभ नहीं होता ऐसा कहा जारहा है। यदि कोई यह कहै कि जब कषायों के अभाव में हमारे निश्चय चारित्र गुण तो प्रगट हो ही जाता है तब फिर हमको बाह्य चारित्र धारण करनेकी क्या जरूरत है अतः इस बातको कांजी स्वामीभी मानते हैं। परन्तु ऐसी बात नहीं है कषायोंका अभाव भी विना व्यवहार और निमित्तके नहीं होता यह अच्छी तरह आगम और युक्तिसे बताया जा चुका है निश्चय की पहिचान व्यवहारसे ही होती है अन्यथा नहीं होती क्योंकि निश्चय दृष्टि गोचर नहीं है तथा व्यवहार निश्चयका हेतु है ऐसा जैनागममें ठोर ठोर बतलाया है अतः "अब व्यवहार मोक्ष मग सुनिये हेतु नियति (निश्चय) को होई" इस बातको न मानना ही तो अनाध्यात्मिकता है। क्योंकि जिसके अध्यात्मिकता प्रगट हो गई है वह कभी निरुद्यमी नही रहता वह हरदम अध्यात्मिकताके संरक्षणका और वृद्धिका उपाय करता ही रहता है जिस प्रकार बगीचा लगाने वाला बगीचेके फलोंकी चाह रखने वाला बगीचे के पोदोंकी रक्षाके निमित वाड लगाता है पोदोंमें पानी देता है और पोदोंकी वृद्धि देख देखकर हर्षित भी होता है उसी प्रकार जिसने अध्यात्मिकता का अंकूरारोपन किया है वह यदि उस अध्यात्मिकताके पूर्ण फल चखनेकी इच्छा रखता है तो वह नियमसे उस अध्यात्मिकता की रक्षा और वृद्धि करनेके निमित्त व्रत रूपी वाड अवश्य लगावेगा और विवेक रूपी जल उसमें

देता रहेगा वह कभी भी विषय कषाय रूपी ढोरोंके द्वारा उस अध्यात्मिक पोदेको नहीं नष्ट करने देगा।

जो अध्यात्मिक (सम्यक्दर्शन) पोदेकी रक्षानिमित्त व्रतरूपी वाड नहीं लगाता है तो समझिये कि उसके अभीतक भी अध्यात्मिकता का अंकूर उत्पन्न ही नहीं हुआ है इसलियेही वह व्रतरूी वाड नहीं लगाता है। वाड तो पदार्थोंकी रक्षानिमित्त लगाई जाती है जब खेतमें जिनस ही नहीं तब रक्षा किसकी वाड लगाकर की जाय? अतः ऐसे कोरे अध्यात्मिकताका ढंढोरापीटनेवालोंको अध्यात्मिकरसका पानकरने वाला समझना भारी अज्ञानता है।

यहां पर कोई यह कुतर्क करे कि व्यवहारधर्मका साधन करनेसे तो पुन्यवन्ध होता है और जहां बन्ध है वहांपर अध्यात्मिकता कैसी? बन्ध तो संसारका कारण ही है पुन्यवन्ध है तो क्या वह भी तो संसारमें फसानेवाली चीज है इसलिये ही आगममें ऐसा बतलाया है कि "पापपुन्य मिल दोय पायनमें वेडी डारी, तनकारागृहमांहि मूंद दियो दुख भारी" अतः इससिद्धान्तानुसार कांजी स्वामीका कहना यथार्थ है क्योंकि व्यवहारधर्म का साधन करनेसे भी पुन्यवन्ध होताहै और उस पुन्यवन्धकोभी संसारमें अटका कर रखने वाली वेडीके समान माना गया है इसकारण व्यवहारसे कुछ लाभ नहीं होता ऐसा कांजीका कहना आगमानुकूल है। इस तर्कनाका समाधान यह है कि प्रथम तो आचार्योंने पापके समान पुन्यको संसार में

रुलाने वाला नहीं माना है इसका कारण यह है कि यदि पापके समान पुन्यको संसारमें अटकाकर रखनेवाली बेडीके समान माना गया होता तो पुन्योपार्जन करनेका उपदेश आचार्य नहीं देते जिस प्रकार पापोपार्जनकरने का निषेध जहां तहां आचार्योंने किया है उसीप्रकार पुन्योपार्जन करनेका भी निषेध करते सो किसीभी आचार्योंने इसका निषेध किया नहीं प्रत्युत पुन्यसंचय करनेका ही सब आचार्योंने उपदेश दिया है । इसलिये पापके समान पुन्य को समझना अज्ञानता है । आगममें जहां पापके समान पुन्य को भी संसार का कारण बतलाया है वहां मिथ्यादृष्टि की अपेक्षा बतलाया है मिथ्यादृष्टि का पुन्यबन्धभी संसारका ही कारण है मिथ्यादृष्टि ने अनन्तबार ग्रीवक तकके जानेका पुन्यबन्ध कर लिया तो भी संसारसे पार न होसका इसलिये ऐसे पुन्यसे दूरी पडो, जो मिथ्यात्वका साथ देता है इसी अपेक्षा पुन्यको पापके समान संसारमें अटकाकर रखने वाला बताया है इस पुन्य को आचार्यों ने पुन्य नहीं मानकर पापही माना है क्योंकि पुन्य के साथ मिथ्यात्वरूपी महा पाप रहनेसे वह पुन्य भी पाप सदृश हो जाता है जैसेकि विपके संयोगसे अमृत के समान मिष्टान्न भी विपरूपमे परिणत होजाता है उसीप्रकार विपके समान मिथ्यात्व के संयोगसे अमृतके समान पुन्य भी पापमय हो जाता है इसलिये आचार्य कहते हैं कि—

"जो उत्तंग चढि फिर पतन, नहीं उत्तंग वर कूप ।
जो सुख अन्तर भय बसे सो सुख है दुखरूप ॥"

इसी कारण मिथ्यादृष्टि का पुन्य पाप रूप होनेसे संसारका कारण बन जाता है परन्तु सम्यक्दृष्टिका पुन्य संसार के सुखों को प्रदान करता हुआ मोक्ष तक जीवको पहुंचा देता है अर्थात् मोक्षगामी जीवके पुन्य मददगार बन जाता है। सम्यक्दृष्टि जीव संसारीक सुखोंके लिये पुन्योपार्जन नहीं करता है किंतु मोक्षके अर्थी जो वह प्रवृत्ति करता है उस प्रवृत्ति द्वारा उसके जो पुन्य संचय हो जाता है उस पुन्यसे मिले हुये संसारीक सुखों को भोगता हुआ वह सम्यक्दृष्टि जीव सकुशल मोक्ष महेलमें जा दाखिल होता है उसको वह पुन्य संसारमें अटकाकर नहीं रख सकता प्रत्युत उसजीवके वह पुन्य मोक्ष पहुंचाने में सहायक बन जाता है जैसाकि वज्रवृषभनाराचसंहननादिकका पावना।

किन्तु मिथ्यादृष्टि संसार सुखोंकेलिये पुन्योपार्जित करता है इसलिये उसके वह पुन्य संसार का कारण बन जाता है अर्थात् जिसहेतुसे जो पुन्यकार्य करता है उसके वह पुन्य उसहेतुमें मदतगार बन जाता है क्योंकि शरीराश्रित क्रियाका फल उद्देश्यानुसार लगता है मिथ्यादृष्टि सांसारिक सुखोंकी वांछा रखता है इसलिये उसकी शुभ प्रवृत्ति (व्यवहारधर्म) संसार-सापेक्ष होनेसे वह शुभ प्रवृत्ति संसार का कारण बन जाती है किन्तु सम्यक्दृष्टिकी शुभ प्रवृत्ति कहिये व्यवहारधर्म निश्चय-

सापेक्ष और संसार निरपेक्ष होनेसे वह व्यवहारधर्म मोक्षका कारण बनजाता है इसलिये आचार्योंने निश्चय सापेक्ष व्यवहारधर्मको (शुभप्रवृत्तिको) मोक्षका कारण माना है। अतः इस व्यवहारधर्म से जो पुन्यवन्ध होता है उस पुन्यवन्धका निषेध आचार्योंने नहीं किया है प्रत्युत इस पुन्यके संचय करनेका विधान ही किया है क्योंकि इसके बिना मोक्षमार्गमें जीव एक पेंड भी नहीं चल सकता है जिसप्रकार बिना व्यवहारनयका अवलम्बन किये केवल निश्चयनयसे ज्ञानमें प्रमाणिकता ही नहीं आसकती अथवा विना व्यवहारनयका अवलम्बन किये पदार्थका बोध ही नहीं हो सकता है। किसी विषयमें विवाद होजानेपर या किसी विषय में संदेह होजानेपर एवं वस्तुके विचार करनेमें बलपूर्वक व्यवहार नयका अवलंबन लेना पडता है इसलिये जो ज्ञान निश्चय और व्यवहारनय दोनोंका अवलम्बन करता है वही ज्ञान प्रमाणभूत समझा जाता है इसीबातको पंचाध्यायीकारने स्पष्ट किया है—

नैवं यतो बलादिह विप्रतिपत्तौ च संशयापत्तौ।
वस्तु विचारे यदि वा प्रमाणमुभयावलम्बि तज्ज्ञानं

इसीप्रकार निश्चयचारित्रकी प्राप्तिकेलिये व्यवहारचारित्र की शरण लेनी पडती है इसके विना कोई गति नहीं है क्योंकि यह आत्मा व्यवहारपूर्वक ही निश्चय पर आरूढ होसकता है अन्यथा नहीं। कारण यह है कि वस्तुका विचार विना व्यवहार के नहीं हो सकता है क्योंकि वस्तुका यथार्थ बोध विवेचनके

द्वारा ही होता है और वह विवेचन ही व्यवहार है। अतः निर्विकल्प बोध जो होता है वह सविकल्प व्यवहार चारित्र (धर्म) के द्वारा ही होता है ऐसा तात्पर्य है अतः निश्चयसापेक्ष व्यवहार धर्म के साधनद्वारा जो पुन्यबन्ध होता है वह पुन्य संसारका कारण नहीं है वह मोक्षका ही कारण है उसको संसारका कारण मानना आगमकी अनभिज्ञता है।

इस बातको और भी दृष्टांत द्वारा स्पष्ट कर देते है। जिस प्रकार राजाके साथ भी पांच सिपाई रहते हैं और चोरके साथ भी पांच सिपाई रहते है किन्तु इसमें बडा भारी अन्तर है राजाके साथ रहने वाले वह पांचों ही सिपाई राजाका कार्य साधते हैं और राजाकी आज्ञामें रहते है परन्तु चोरके साथ रहनेवाले वह पांचों ही सिपाई चोरको मारते है और नानाप्रकारसे दारुण कष्ट पहुंचाते हैं एवं चोरको उनसिपाहियोंके आधीन रहना पडता है ठीक उसीप्रकार पुन्यसे प्राप्त हुये पंचेन्द्रियरूपी पांच सिपाई सम्यक्दृष्टि राजात्मा के तो अधीन रहकर उनके मोक्षमार्गमें सहायक बनजाते है और उनको निर्विघ्न मोक्ष तक पहूंचा देते हैं किन्तु मिथ्यादृष्टि पापात्मा को वह पुन्यसे प्राप्त हुये पंचेद्रिय रूपी पांच सिपाई उसको अपनें अधीनस्थ बनालेते है और पंचेन्द्रियके विषय भोगोंमें फंसाकर चारों गतियोंमें भ्रमण कराते हूए उसको दारुणकष्ट पहुंचाते हैं। अतः पुन्य संसारका भी कारण है और मोक्षका भी कारण है।

किन्तु जो पुन्यके कारणोंको (दानपूजादिक शुभ प्रवृत्तिको) केवल संसारका ही कारण मानकर पुन्यवन्धके कारण दान पूजा यात्रादिक के करनेको मिथ्यात्व वताकर इसके करनेका निषेध करता है वह इस रहस्यको समझा ही नहीं इसलिये वह अज्ञानी है।

संसारमें अटका कर रखनेवाली वेडी पुन्यबन्ध नहीं है किन्तु मिथ्यात्व है इसबातको अच्छी तरह हम ऊपर में सिद्ध कर आये हैं। जिस जीवकी मिथ्यात्वरूपी वेडी कट चुकी है फिर वह चाहे जहां रहे वह संसार रूपी कारागारका कैदी नहीं है। जिस प्रकार जैलखानेमें सिपाई लोग भी रहते है और जेलरसाव अफसर भी उसी जगह रहा करते है परन्तु उनको जैलके कष्टका कुछ भी अनुभव नहीं होता उसी प्रकार जिस जीवकी संसार रूपी जैलकी अवधी पक चुकी है और उसकी मिथ्यात्व रूपी वेडी कट चुकी है फिर उसको संसार रूपी जैलका कष्ट कुछ भी अनुभवं नहीं होता फिर तो वह नाचता कूदता अपने मोक्ष रूपी घरको जानेका रास्ता पकड लेता है फिर उसको मोक्ष रूपी अपने घर पहुंचनेमें कोई किसी प्रकारकी बाधा नहीं दे सकता है। इसका कारण यह है कि उसके पूर्वोपार्जित कर्म उदयमें आकर अपनां रस देकर निर्जर जाते हैं उस पूर्वोपार्जित कर्मके उदयमें वह तद्रूप भी नहीं होता इसलिये उसके ऐसा नवीन बन्ध भी नही होता जो संसार परिभ्रमण करानेमें कारण हो।

क्योंकि उसकी प्रवृत्ति ही ऐसी हो जाती है जो अहिंसा रूप दयास्वरूप सत्यरूप अचौर्यरूप ब्रह्मचर्य स्वरूप और परिग्रह से निर्ममत्व स्वरूप एवं अपने कुलाचार लोक मर्यादा रूप हो जाती है। जिससे ऐसा शुभ बन्ध होता है जो आत्माको सुखी बनानेमें और मोक्ष तक पहुंचाने में मदत करता है इसलिये सम्यक् दृष्टिकी उक्त प्रवृत्ति या निवृत्ति मार्गमें अवलम्बित है इस कारण सम्यक् दृष्टिकी प्रवृत्ति आध्यात्मिक प्रवृत्ति है। वह मोक्षमार्गमें केलि करता है इसलिये आचार्योंने उसको जिनेश्वर का लघुनन्दन माना है।

"भेद विज्ञान जग्यो जिन्हके घट सीतल चित्त भयो जिम चन्दन। केलि करे शिवमारगमें जगमाहिं जिनेश्वरके लघु-नन्दन। सत्य स्वरूप सदा जिन्हके प्रगटो अवदात मिथ्यात्व निकन्दन। शांतदशा तिनकी पहिचान करे कर जोरि बनारसि बन्दन।" और वह कैसा है—

"स्वार्थके सांचे परमार्थके सांचे चित्त सांचे सांचे वैन कहैं सांचे जैनमती हैं। काहूके विरोधी नांहि परजायबुद्धि नाहि आत्मागवेषी न गृहस्थ हैं यती हैं। रिद्ध सिद्ध वृद्धि दीसे घटमें प्रगट सदा अन्तरकी लक्ष्मिसों अजाची लखपती हैं। दास भग-वंतके उदास रहैं जगतसों सुखिया सदीव ऐसे जीव समकिती हैं।

इस कारण सम्यक्दृष्टिकी जितनी भी शुभ प्रवृत्तियां हैं वह सब पुन्यानुपुन्यबन्धका कारण होनेसे संसारका कारण न होकर

मोक्षका कारणभूत होजाती हैं इसलिये पुन्यवन्धको सर्वथा संसारका कारण मानकर पुन्यवन्धके करनेका निषेध करना संसारमें भी आत्माको दुखी बनाना है। सारांश यह है कि संसारका कारण पुन्य नहीं है, संसारका कारण एक मिथ्यात्व-ही है। यद्यपि वन्धकी अपेक्षा पुन्य भी वन्ध स्वरूप ही है तथापि बन्धन काटनेमें बन्ध भी सहायक होता है। जिसप्रकार लोहेकी वेडी को लोहा ही काट सकता है उसी प्रकार कर्म बन्धनके फंदेको कर्म ही काट सकता है। अर्थात् जिस प्रकार जो लोहेकी वेडी को काटना चाहै तो वह लोहेकी छेनी और हतोडा हाथमें लेकर उस वेडीको काट सकता है विना लोहेकी मदतके वह उस वेडीको नहीं काट सकता है उसीप्रकार जो यह आत्मा मिथ्याप्रवृत्ति द्वारा कर्म वन्धनोंसे बन्धा गया है यदि वह आत्मा उस कर्मवन्धनोंको काटना चाहता है तो उसको उन कर्मवन्धनोंके काटनेके लिये शुभ कर्मरूप छेनी और व्रतरूप हथोडा हाथमें उसको लेना ही होगा और सम्यक्त्व रूप चोट लगानेसे वह संसारका कारण कर्मवन्ध अवश्य कट जायगा। इसलिये मानना पडेगा कि कर्मसे कर्म कटते है परन्तु चाहिये कर्म काटने वाले विवेकी पुरुष अन्यथा लेनेके बदले देने भी पड सकते हैं।

इस कथनसे यह वात अच्छी तरहसे सिद्ध हो चुकी कि मिथ्यादृष्टिका ही पुन्य वन्ध संसारका कारण है क्योंकि उसका पुन्य बंन्ध पापानुवन्धी पुन्य है वह संसारके सुखोंमें विषयांध

बनाकर जीवको भोगोपभोगमें लिप्त बना देता है इस कारण मिथ्यादृष्टिका ही पुन्य आत्माका अहित करने वाला है किन्तु सम्यक् दृष्टिका पुन्य आत्माका अहित करने वाला नहीं है प्रत्युत हित करने वाला है जैसे विषभी अनुपानके योगसे रोगी को निरोगी बनाने में अमृतकासा काम करता है उसी प्रकार पुन्य बन्ध भी सम्यक् दर्शनके संयोगसे जीवको मोक्षमार्गमें गमन करने लायक शक्ति शाली बना देता है इसलिये मोक्षाभिलाषी जीवोंको मोक्षमार्गमें बटसारीके समान पुन्यको समझकर पुन्य सम्पादन करना चाहिये किन्तु संसारिक सुखोंके लिये पुन्य संपादन नहीं करना चाहिये क्योंकि संसारिक सुखोंकी वांछा मिथ्यादृष्टि जीवके होती है और वही सांसारिक सुखोंके लिये पुन्य सम्पादन करता है। किन्तु सम्यक् दृष्टि सांसारिक सुखों को जीर्ण तृणके समान समझता है इसलिये वह सांसारिक सुखोंके लिये पुन्य सम्पादन नहीं करता किन्तु उसके जो मोक्षमार्गमें गमनकरनेसे स्वयं पुन्य बन्ध हो जाता है उसमें वह राचता नहीं अर्थात् पुन्यके उदयमें जो भोगोपभोग की सामग्री मिलती है उसमें वह तल्लीन नहीं होता। किन्तु उसको उदासीन रूपसे भोगता है यह सम्यक् दृष्टिकी विशेषता है। यह बात मिथ्या दृष्टिमें नहीं है वह पुन्य बन्धको संसारका कारण मानता हुआ भी सांसारिक सुखोंके लिये पुन्यका कार्य करता है जैसाकि कांजी स्वामी दान पूजा आदि को संसारका कारण मानकर

भी मंदिर बनाना प्रतिष्ठा कराना पूजन करना इत्यादि पुन्य बन्धका कार्य करते है तथा व्यवहार और निमित्तसे लाभ नहीं होता मानकर भी व्यवहार धर्मका और व्यवहार धर्मके साधन करनेके निमित्तोंकी (मंदिरादिक बनाकर) प्रवृत्ति करते हैं यह उनकी दुरंगी चाल है अतः ऐसी दुरंगी चाल चलने वाला मनुष्य कभी सम्यक् दृष्टि नहीं हो सकता सम्यक्दृष्टि वही हो सकता है जो

"मनमें होय सो वचन उचरिये।
वचन होय सो तन सों करिये॥
करिये सरल तिहुं योग अपने देख निर्मल आरसी।
मुख करै जैसा लखे तैसा कपट प्रीति अंगारसी॥

अतः मनमें और वचनमें और करना कछु और ऐसे मनुष्य मायावी होते हैं ऐसे मायावी जैनाभासोंके बनाये हुए मंदिरको और उनके द्वारा प्रतिष्ठित प्रतिमाजीको मानना पूजना जैनागम के प्रतिकूल है जैनागममें ऐसे जैनाभासोंके बनाये मंदिरों और प्रतिमाजीको मानना निषेध हैं।

"चतुःसंघसंहितया जैनबिम्बप्रतिष्ठिताम्॥
नमेन्नापरसंघस्य यतो न्यासविपर्ययः"॥ नीतिसार

अर्थात् सिंहसंघ, नन्दिसंघ, सेनसंघ, और देवसंघ, इन चारों संघसे अतिरिक्त जैनाभासोंके विधि विधानसे प्रतिष्ठित

प्रतिबिम्बोंको न पूजे न वन्दे क्योंकि उनके मंत्रन्यासमें विपर्यय है किन्तु उपरोक्त चार संघोंके बताये हुये मंत्रोंसे विधिविधानों से प्रतिष्ठित किये बिम्बोंको ही पूजे वन्दें इनमें भेद भावना न रक्खें जो इनमें भेदभाव रखते हैं वह सम्यक् दर्शन रहित हैं मिथ्यादृष्टि हैं इसलिये वह संसार परिभ्रमण करते रहते हैं।

"चतुःसंघे नरो यस्तु कुरुते भेदभावनाम् ।
स सम्यग्दर्शनातीतः संसारे संचरत्यरम्" ॥नीति०

अर्थात् इन चारों संघोंमें किसी तरह का भेद नहीं है इन संघोंके मंत्रोंसे विधानोंसे प्रतिष्ठा कराने वाला आसन्न भव्य है अर्थात् चरणानुयोगके शास्त्रोंमें बतलाया है कि जो विधि पूर्वक मंदिर बनाकर उसमें विधिपूर्वक प्रतिष्ठा करा कर प्रतिमा जी विराजमान करता है अथवा चतुर्विधसंघको तीर्थक्षेत्रोंकी वन्दना कराता है वह सात या आठ भवके भीतर ही नियमसे मोक्षकी प्राप्ति कर लेता है यह व्यवहार और निमित्तसे लाभ होता है।

किन्तु कानजी इसके प्रतिकूल प्रतिपादन करते हैं वह व्यवहार और निमित्तसे लाभ होना नहीं मानते। वह तो यह कहते हैं "व्यवहार और निमित्तसे लाभ होता है यह कहांसे लाया" अर्थात् व्यवहार और निमित्तसे लाभ नहीं होता है उनके कहनेका यह भावार्थ है इस विषयमें एक लेख उनका जैनगजट अंक ६ वर्ष ५१ में प्रगट हुवा है उसमें यह बताया है कि सत्य

के साथमें निमित्तका सम्बन्ध है या नहीं और सत्य क्या वस्तु है।

"कोइ कहे कि आप हमें समझादें तो आप सच्चे लेकिन भाई ऐसा नहीं हो सकता कोई अन्य स्वीकार करे तभी सत्यका मूल्यांकन हो ऐसा सत्य नहीं है। तू भिन्न स्वतंत्र है अन्य तुझे कोइ नहीं समझा सकता जब जीव अपनी पात्रता स्वयं समझें तब समझनेमें सामने वाला निमित्त कहलाता है और यदि न समझें तो सामने वाला जीव उसका निमित्त भी नहीं कहलाता यह तो स्वयं अपना स्वरूप समझकर अपना कल्यान कर लेने की बात है"।

कांजीका कहना है कि कोई किसी को नहीं समझा सकता है क्योंकि सब जीव भिन्न भिन्न समझनेमें स्वतंत्र है दूसरा जीव दूसरेको समझादें तो जीवकी स्वतंत्रता नष्ट हो जाती है जब जीव स्वयं समझें तो समझाने वाला निमित्त कहला सकता है अन्यथा नहीं। यदि यह बात सही है कि दूसरा जीव दूसरे को नहीं समझा सकता है तो कांनजी ने खुद दूसरोंको समझा-नेके लिये इतना आडम्बर क्यों बना रखा है? और क्यों दूसरे लोग समझनेके लिये उनके पास जाते हैं वे उनको मना क्यों नहीं करते कि तुम लोग समझनेके लिये मेरे पास मत आवो तुम समझनेके लिये स्वतंत्र हो मेरा असर तुम पर कुछ नहीं पड़ सकता है ऐसा न कहकर अपना पंथ बढानेके लिये लोगोंको

अपने अनुकूल करनेके लिये पूर्णतया समझानेका प्रयत्न किया जारहा है। और हजारोंकी संख्यामें समझानेसे समझ कर उनके भक्त बन चुके हैं अर्थात् कांजीका सिद्धांत मानने लग गये हैं फिर भी दूसरेके समझानेसे दूसरा कोई नहीं समझता ऐसा कहना और दूसरोंको समझाने का प्रयत्न भी करना यह कौनसा सिद्धांत है। जब निमित्तसे और व्यवहारसे कुछभी लाभ नहीं होता है ऐसा कांजी मानते हैं तब कांजीको मंदिरादिकका तथा देशनादिकका निमित्त बनाना उचित नहीं है क्योंकि अपने सिद्धांतका आपही घात करें यह बुद्धि मत्ताको कार्य नहीं यह तो वास्तवमें विवेक शून्यता है। या भोले जीवोंको अपनी तरफ झुकानेका तरीका है। भोले जीव यह समझने लग जाय कि कांजी स्वामी ठीक ही तो कहते हैं कि समझने वाला खुद समझे तो सामनेवाला निमित्त कहला सकता है अन्यथा समझने वाला खुद न समझे तो समझाने वाला निमित्त किस प्रकार कहला सकता है? अर्थात् नहीं कहला सकता है। परन्तु सर्वथा ऐसी बात नहीं है। प्रथम तो संसारी जीवोंको सर्वथा स्वतंत्र मानना अज्ञानता है। क्योंकि संसारी जीव कर्मोंकी परतंत्रतामें जकडे हुये हैं इसलिये उनको स्वतंत्र होनेके लिये पर निमित्तोंकी सरण लेनी पडती है। पर निमित्तोंसे ही जीवोंका सुधार बिगाड होता है इसीलिये जिन जिन निमित्तोंसे बिगाड होता है उन उन निमित्तोंको हटाकर जिन निमित्तोंसे आत्माका सुधार होता है उन निमित्तोंको जुटाना पडता है। अतः कानजी

स्वामी निमित्तोंसे लाभ होना न मानने वाले भी इतनी बात तो मानतेई हैं कि "समझने वाला खुद समझे तो समझाने वाला निमित्त कहला सकता है"। किसी भी रूपमें सही निमित्त से लाभ होना तो स्वीकार कर लिया गया है अब यह बात तो न रही कि निमित्तसे कुछ भी लाभ नहीं होता है। उनके वचनोंसे ही उनका सिद्धांत खंडित हो चुका। जो हो अपने आप जो अपने सिद्धांतका खंडन करें वह कैसा गुरुदेव या स्वामी।

खैर! कांजीको यह भी मालुम रहै कि संसारमें चारों गतियों के जीव कोईभी स्वतंत्र नहीं हैं कम या जादा सब परतंत्र हैं और तो क्या अर्हंत भगवान तेरहवें गुणस्थानवर्ती अनन्त चतुष्टयके धारी होनेपर भी पूर्णतया वहभी स्वतंत्र नहीं है उनको भी क्षेत्र विहायोगति कर्मके उदयमें जिसक्षेत्रका स्पर्शकरना बाकी है उस क्षेत्रमें विहार करना पडता है अथवा सर्व कर्मोंकी स्थिती-बरोबर करनेके लिये समुद्घातभी उनको करना पडता है तथा भव्य जीवोंके भाग्यवश उनको उपदेश भी देना पडता है कहा भी है—

"भविभागन वचयोगे वशाय, तुम ध्वनिह्वै सुनि विभ्रम नशाय"

यद्यपि उनको अब परनिमित्तोंके मिलानेकी जरूरत नहीं है वे कृतकृत्य होचुके हैं तद्यपि कर्मोंका सम्बन्ध उनके जबतक है तबतक उनको विना इच्छा कर्मोंके निमित्तसे विहारादि कार्य

करने पडते हैं अतः पूर्ण स्वतंत्र सिद्ध भगवान हैं उनके सिवाय अन्य जीव पूर्ण स्वतंत्र कोई भी नहीं है इसलिये सांसारिक जीवों को स्वतंत्र करनेके लिये अर्थात् संसारिक जेलसे निकालनेके लिये ही आचार्योंने मोक्षमार्गका निरूपण किया है और वह मोक्षमार्ग विना गुरु देशनाके स्वतः किसीके भी समझमें नहीं आता। यदि गुरुदेशनाके विना भी मोक्षमार्ग समझमें आजाता हो तो ऐसा आगम दिखलानेकी कृपा करें अन्यथा गुरुदेशना के निमित्त विना मोक्षमार्ग दिखाई नहीं देता इस बातको स्वीकार करें।

आचार्योंने "सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः" ऐसा जो मोक्षमार्गका निरूपण किया है यह व्यवहार है, निश्चय नहीं क्योंकि जहां संसारी जीवोंको संसार रूपी जेलसे निकलनेका उपाय बताया गया है और मोक्षमार्गमें लगाया गया है इसको व्यवहार नहीं कहेंगे तो और क्या कहेंगे ?

क्योंकि निश्चयमें तो ध्यान ध्याता ध्येयका विकल्पही नहीं है। जहां तक विकल्प है तहां तक व्यवहार है इसलिये जैसा उपादान सत्य है वैसा निमित्त भी सत्य है ऐसा नहीं है कि केवल उपादान ही सत्य है और निमित्त असत्य है। निमित्तके विना उपादानकी उपलब्धी भी नहीं होती और विना उपादानके अकेला निमित्त भी कुछ नहीं कर पाता जब दोनोंकी परस्परमें अनुकूल संबन्धसे ही कार्यकी सिद्धि होती है अर्थात् दोनों

की सत्यता प्रगट होती है अन्यथा दोनोंकी परस्परमें प्रतिकूलता होने पर दोनों ही असत्य सिद्ध हो जाते है। इसलिये उपादानकी तैयारी को ही सत्य समझ लेना और उपादानकी तैयारी करानेमें जो निमित्त कारण पडता है उसको असत्य समझना असत्य है। यदि गुरुदेशनादि समझानेके निमित्त मिले बिना ही जीवके समझने की तैयारी स्वमेव हो जाती है तो कांजीका कहना सत्य है, अन्यथा कांजी का कहना मिथ्या है।

जीवमें समझनेकी और समझानेकी शक्ति तो सदा काल विद्यमान है फिर यह जीव अनादिकाल से आजतक क्यों नही समझने के लिये तैयार हुआ? तो कहना पडेगा कि उसको आजतक समझने के योग्य बनाने वालेका संयोग नहीं मिला इस कारण उसमें समझने के योग्य बनने की पात्रता प्रगट नहीं हुई अतःशक्तिकी व्यक्ति बिना निमित्तके नही होती ऐसा नियम है।

जिसप्रकार मिट्टीमें कलशरूप परिणमन करनेकी शक्ति सदा काल विद्यमान है तो भी उसशक्तिका व्यक्तपना कुम्हारादिकके निमित्तबिना नहीं होता अर्थात् कलशादिक मिट्टीका स्वमेव कुम्हारादिकके निमित्त बिना नही बनता प्रथम तो जब उस मिट्टी को कुम्हार गोंदगोंद कर कलशरूपहोनेके योग्य तैयार करता है तब मिट्टीमें कलशरूपपरिणमन करनेकी शक्ति व्यक्त होती है अन्यथा उस मिट्टीमें स्वमेव कलशरूप होनेकी पात्रता प्राप्त

नहीं होती । कलश रूप परिणमन करनेकी योग्यता मिट्टीमें कुम्हारद्वारा प्रगट होनेपर भी उस मिट्टीसे कुम्हारादिकके निमित्त विना स्वमेव कलश नहीं बन सकता जो कुम्हारादिकके निमित्तसे उसमिट्टीका कलशादिक बनता है वह भी कुम्हारकी इच्छानुसार ही छोटा बडा सुन्दराकार बनता है कुम्हारकी इच्छा के प्रतिकूल नहीं बनता ।

उसमिट्टीमें कलशरूप बननेकी पात्रता प्रगटहोनेपर भी कुम्हारादिकके निमित्त विना स्वयं कलशरूप होनेकी उसमें अपात्रता ही रहती है । उसकी उपादानशक्ति व्यर्थमें मिट्टीमें मिल जाती है । उसीप्रकार अनादिकाल निमित्तसे इसजीवको जबतक सेनी पंचेन्द्रिय पर्याय प्राप्त नहीं होती तबतक तो जिसप्रकार मिट्टीको कलशरूप होनेके योग्य बनादेनेका निमित्त कुम्हारका नहीं मिला उसीप्रकार उसको गुरुदेशनादिका अर्थात् देशनालब्धीका निमित्त ही नहीं मिला जो उसमें समझनेयोग्य पात्रता आजाती । उसके बाद जब जीवको सेनीपंचेन्द्रियपर्याय का एवं क्षयोपसमलब्धीका निमित्त मिलता है तब उसमें समझनेके योग्य पात्रता प्रगट होती है तो जैसा देशनादिक संयोग मिलता है वैसा देशना देनेवालेके अभिप्रायके अनुकूल समझलेता है ऐसा नहीं कि समझानेवालेके प्रतिकूल समझ लेता हो । उसमें केवल समझनेकी पात्रता प्रगट हुई है इसलिये समझानेवाला जैसा सत्यासत्य समझा देता है वैसा वह समझ लेता है । स्वयं

सत्यासत्यका निर्णय नहीं करपाता। यदि समझने की शक्ति व्यक्त होजानेपर भी जो स्वयं सत्यासत्यका निर्णय करलेता तो यह जीव अनादिकालसे आजतक संसारभ्रमण नहीं करता इसलिये समझनेकी शक्ति व्यक्त होजाने पर भी वह शक्ति सद्गुरु के निमित्त बिना सत्यासत्यका निर्णय करनेमें व्यर्थ हो जाती है बस यही कारण है कि कांजीको अभीतक सद्गुरुका निमित्त नहीं मिला इसलिये वह पूर्व निमित्तोंके अनुसार अपनी समझशक्तिका विकास कर पाये हैं और पूर्वप्रयोगानुसार बाह्य निमित्तोंसे कुछ भी लाभ नहीं होता इस समझके आधारपर समझनेकेलिये सद्गुरुवोंका निमित्त भी नहीं मिलाते इस कारण वह सत्य क्या वस्तु है इसका स्वयं निर्णय भी नहीं करपाते और असत्यको ही सत्य समझकर अपनेको सर्वोपरि ज्ञानी समझ लिया है इसकारणसेही दूसरे विद्वानोंसे तत्वनिर्णय करनेकी जरूरत नहीं समझते। जो विद्वान् उनसे तत्व चरचा करना चाहते हैं उनसे वे बात नहीं करते और कह देते हैं कि हमको शास्त्रार्थ करनेकी जरूरत नहीं हमारे तत्त्वनिर्णय किया हुआ है। जिसको मेरा प्रवचन सुनना होवे सुने जिसको न सुनना होवे अपने घरबैठे रहें इत्यादि कहकर टालदेते हैं परन्तु किसीके साथ तत्त्व विचार नहीं करते। इससे स्पष्ट सिद्ध होता है कि उनका सिद्धांत पोच है इसीलिये विचार करने से डरते है। अन्यथा वे विचार क्यों नहीं करते। यदि उनका सिद्धांत ठीक है तो

विचार करनेमें उनको कौनसी हानी है ? अर्थात् सिवाय लाभ के कुछ भी हानी नहीं है। विचार करनेसे उनका सिद्धांत ठीक है तो उनके सिद्धांतकी पुष्टि ही होगी इसलिये उनको तत्त्वनिर्णय द्वारा अपने सिद्धांतका प्रचार करना चाहिए। यदि उनका सिद्धांत गलत है तो विचार द्वारा इसका भी निर्णय होजावेगा फिर उनको अपनी एकान्तपक्षको छोडकर स्याद्वादके सही रास्ता पर आजाना पड़ेगा इसमें भी उनको यह लाभ है। जिसप्रकार व्यवहार नय मिथ्या है उसीप्रकार निश्चय नय भी मिथ्या है। क्योंकि निश्चय नय भी व्यवहारनयकी तरह विकल्प आत्मक है और शब्दात्मक होनेसे जडस्वरूप है तथा वस्तुके एक अंशका प्रतिपादक है। इसकारण निश्चय नय भी मिथ्या है। जब निश्चय नय भी मिथ्या है तब उसका आलम्बन करने वालाभी मिथ्यादृष्टि स्वतः सिद्ध हो जाता है। दोनों ही नय द्रव्यश्रुतात्मक हैं और द्रव्यश्रुत भी अक्षरात्मक तथा शब्दात्मक है इसकारण द्रव्यश्रुत भी जडात्मक है। जब द्रव्यश्रुत परार्थ स्वरूप है तब द्रव्यश्रुतका अंश नय भी परार्थात्मक ही होगा। नय द्रव्यश्रुतका अंश है इसबातका निरूपण सर्वार्थसिद्धिकारने भी किया है।

"तत्र प्रमाणं द्विविधं स्वार्थं परार्थं च तत्र स्वार्थप्रमाणं श्रुत-वर्ज्यम्। श्रुतं पुनः स्वार्थं भवति परार्थं च ज्ञानात्मकं स्वार्थं, वच-नात्मकं परार्थं। तद्विकल्पा नयाः।"

इसीलिये निश्चय नय भी परार्थ और विकल्पात्मक होनेसे मिथ्या है इसीबातको पंचाध्यायीकारने घोषित किया है।

"इत्युक्तसूत्रादपि सविकल्पत्वात्तथानुभूतेश्च सर्वोपि नयो यावान् परसमयः स च नयावलंबी।"

अर्थात् निश्चयनयावलम्बी को मिथ्यादृष्टि कहा गया है इस विषयमें यह गाथा प्रमाणभूत है।

उभयं णयं विभणिमं जाणइ णवरं तु समयपडिवद्धो ण दु णयपक्खं गिण्हदि किं चि वि णयपक्ख-परिहीणो ॥"

भावार्थ—जो दो प्रकारके नय कहे गये हैं उन्हें सम्यक् दृष्टि जानता तो है परन्तु किसीभी नयके पक्षको ग्रहण नहीं करता है। वह नयपक्षसे रहित है इस गाथारूप सूत्रसे यह बात सिद्ध हो चुकी कि सम्यग्दृष्टि निश्चयनयका भी अवलम्बन नहीं करता है। दूसरी बात यह है कि निश्चय नयको भी आचार्योंने सविकल्पक बताया है और जितना सविकल्प ज्ञान है उसे अभूतार्थ बतलाया है जैसा कि कहा गया है।

"यदि वा ज्ञानविकल्पो नयो विकल्पोस्ति सोप्य-परमार्थः।

इसलिये सविकल्पज्ञानात्मक होनेसे भी निश्चय नय मिथ्या सिद्ध होता है। तथा अनुभवमें भी यही बात आती है कि

जितनी भी नय है सभी परसमय मिथ्या हैं। तथा उक्त नयोंका अवलम्बन करनेवाला भी मिथ्यादृष्टि है।

यहां पर यह शंका हो सकती है कि व्यवहार नयको तो सभी आचार्योंने मिथ्या बतलाया है अतः उसका अवलम्बन करने वाला मिथ्यादृष्टि हो सकता है किन्तु व्यवहार नयकी तरह निश्चय नय का भी अवलम्बन करने वाला मिथ्यादृष्टि कहा गया सो क्यों ? इस शंकाका निराकरण आचार्य करते हैं कि निश्चय नयसे भी विशेष कोई है। वह सूक्षम है इसलिये वह गुरुके उपदेशसे ही जाना जाता है सिवाय महनीय गुरुके उसका स्वरूप कोई नहीं बता सक्ता है वह विशेष स्वात्मानुभूति की महिमा है जोकि निश्चय नयसे भी बहुत सूक्ष्म है और उससे भिन्न है। इसलिये निश्चयनय शब्द श्रुतका अंश होनेसे शब्द रूप निश्चयनय वहां तक नहीं पहुंच सकता इस कारण निश्चयनय को भी मिथ्या आचार्योंने बतलाया है तथा जिस प्रकार व्यवहारनय वस्तुके एक अंशका निरूपण कहता है उसी प्रकार निश्चयनय भी उस एक अंशके निरूपणका निषेध करता है अर्थात् वस्तु स्वरूप इतना ही नहीं है और भी है इस बातको निश्चयनय सूचित करता है इसलिये यह कथंचित् सत्यार्थ भी है तो भी शब्दात्मक और सविकल्प होनेसे स्वार्थ प्रमाणकी अपेक्षा दोनों नय मिथ्या ही हैं। क्योंकि वस्तु स्वरूपमें न विकल्पही है और न निषेध ही है वहां पर तो केवल चिदात्मानुभूतिमात्र है

यही सत्यार्थ है। परन्तु वह निर्विकल्प अनुभूति सविकल्प बोध पूर्वक ही होती है इसलिये उभयनय मिथ्या होने परभी आदरणीय है। जिस प्रकार द्रव्यश्रुतके विना भावश्रुत नहीं होता उसी प्रकार नयोंके अवलम्बन विना वस्तु स्वरूप समझमें नहीं आता इसलिये सविकल्पनयोंका सहारा अनिवार्य लेना पडता है। क्योंकि जीवादि पदार्थोंमें व्यवहार और निश्चयके विचार पूर्वक जो ज्ञान है वही ज्ञान प्रमाण ज्ञान है। उसी प्रमाण ज्ञानसे वस्तु मात्रका प्रत्यक्षके समान अनुभव हो जाता है। क्योंकि प्रमाण वस्तुके सर्व धर्मोंको विषय करता है। किंतु नय चाहे निश्चय नयही क्यों न हो वह वस्तुके सर्वधर्मोंको एक साथ विषय नहीं करता वह वस्तुके एक अंश मात्रको ग्रहण करता है। इस बात को सर्वार्थसिद्धि कारने भी घोषित किया है। "सकलादेशः प्रमाणाधीनम्; विकलादेशो नयाधीनम्" इस कारण निश्चयनयभी पदार्थके सर्वांशको विषय नहीं कर सकता है यदि निश्चयनयको पदार्थके सर्वांशग्राही मान लिया जाय तो फिर प्रमाणकी जरूरत ही नहीं रहती निश्चयनयसे ही प्रमाण का कार्य हो जाता सो होता नहीं क्योंकि नयमें यह शक्तिही नहीं है कि पदार्थके सर्व धर्मोंको एक साथ विषय कर सकें। वह तो वस्तुके अंश मात्रका द्योतक है। इस कारण नय प्रमाण नहीं हो सकता।

जीवादि सर्व ही पदार्थ सामान्य विशेषात्मक हैं इसलिये जो पदार्थके दोनों अंशोंको विषय करता है वह ज्ञान प्रमाण

ज्ञान है और जो एक अंशको विषय करता है वह नयाधीनात्मक ज्ञान है। नय दो प्रकार है–द्रव्यार्थिक, पर्यायार्थिक। इनमें जो पदार्थके सामान्य अंशको ग्रहण करता है वह द्रव्यार्थिकनय है और जो पदार्थके विशेषांशको विषय करता है वह पर्यायार्थिक-नय है यह दोनूं नय एक एक अंशको विषय करते हैं किंतु प्रमाण दोनूं अंशोंको युगपत् अर्थात् एक साथ विषय करता है। तथा विरोधी धर्मोंको भी एक साथ विषय करता है। जैसे सत् असत् एक अनेक अस्ति नास्ति इत्यादि विरोधी धर्मोंको भी प्रमाण युगपत् विषय करता हैं। परंतु नयमें यह बात नहीं है नय तो पदार्थके स्वरूप को समझने के लिये एक निमित्त मात्र तरीका है। इसके बिना वस्तु स्वरूप समझमें नहीं आता इस-लिये इस जड़ स्वरूप नयोंका सहारा लेना पडता है। अतः जड़ के निमित्तसे भी आत्माकी सिद्धि होती है प्रतिमा भी जड है शास्त्रभी जड है गुरुभी जड चेतन मिश्रित है उनकी देशना वचन वर्गणा रूप पुद्गल ही है। इनके द्वारा आत्मोपलब्धी प्राप्त होती है इससे बढकर निमित्त से और क्या लाभ होना बाकी रह जाता है जो सत्य स्वरूप वस्तु है गुरुके निमित्त विना सिवाय कांजीके और तीर्थंकरोंके दूसरा कोई नहीं समझ सकता है और न कोई समझ भी सकेगा। तीर्थंकर भगवान तो तीन ज्ञानके धारी होते हैं इसलिये वे स्वयं गुरु है। और कांजी स्वामी भी बिना गुरुके गुरु इसलिये उनको दूसरे गुरुकी देशना

के निमित्तकी जरूरत नहीं। जो बिना रंगके ही पक्का रंग चढा सकता है उसको हलद फिटकरीके निमित्तके मिलानेकी क्या जरूरत है अर्थात् जो विना नियम व्रतादिकके निमित्त मिलाये ही मुक्ति प्राप्त कर सकता है वह नियम व्रतादिक किस लिये धारण करेगा अर्थात् नहीं करेगा। परन्तु ऐसा होता नहीं यह केवल कांजीकी कल्पना ही है कि विना निमित्तके उपादान की उपलब्धी हो जाती है। किन्तु बिना निमित्तके उपादान कोरा पडा ही रहता है। यदि ऐसा नहीं है तो अनादि कालसे आज तक यह जीव मोक्ष प्राप्त क्यों नहीं कर पाया उपादान तो जीव के साथ ही है उसको कहीं बाहरसे लाना तो नहीं पडता है। उपादान की सिद्धि विना निमितके ही हो जाती तो संसार कोई वस्तुही न रहता सब जीव मुक्तिमें जा विराजते परन्तु विना निमित्तके उपादान की उपलब्धी नहीं होती इसलिये ही यह जीव अनादि कालसे संसारमें खोटे निमित्तोंके सम्बन्ध से परिभ्रमण कर रहा है अतः मोक्षाभिलाषी जीवोंको मोक्ष प्राप्त करनेके कारण भूत ऐसे निमित्तोंको अवश्य मिलाना चाहिये।

सब जीव समझनेमें स्वतंत्र है दूसरा कोई नहीं समझा सकता यह बात कथंचित तीव्र मिथ्यात्व के उदयमें तो घटित हो सकती है क्योंकि तीव्र मिथ्यादृष्टि तो समझाने पर भी नहीं समझ सकता परन्तु मिथ्यात्वके मंद उदयमें यह बात लागू नहीं पडती क्योंकि मिथ्यात्वके मंदोदयमें जीव समझाने पर समझ

भी सकता है, ऐसा समझकरही समझानेकी कोशिश करनी चाहिये।

तथा समझानेवालों का निमित्तभी मिलाना चाहिये। दूसरेके समझानेसे यह जीव मिथ्यात्वके मंदोदयमें समझ भी सकता है यह ही सत्यका स्वरूप है। इस बातको न मानना ही सत्य स्वरूपसे वहिरभूत असत्य है।

यहां पर कोई यह कहैं कि आगममें तो सब द्रव्योंको स्वतंत्र बतलाया है अर्थात् सब द्रव्य अपने अपने स्वभावमें अवस्थित हैं कोई द्रव्य किसी द्रव्यके ऊपर अपना असर नहीं डाल सकता हैं और न कोई द्रव्य किसी द्रव्यके स्वभाव को पलट सकता हैं तथा न नष्ट भी कर सकता है अथवा न किसी द्रव्य का दूसरा द्रव्य नया स्वभाव ही उत्पन्न कर सकता है। इस बातका खुलासा समयसारमें किया है।

"सकल वस्तु जगमें असहाई वस्तु वस्तुसेमिले न काई।
जीव वस्तु जाने जगजेती सोहू भिन्न रहै सब सेती॥"

"जैसे जे दरव ताके तैसे गुण परिजाय-ताहिं सो मिलत पै मिलै न काहु आनसों। जीव वस्तु चेतन कर्म जड जाति भेद ऐसे अमिलाप ज्यों नितंब जुडे कानसों। ऐसो सुनिवेकरि जांके हिरदे प्रगट भयो तांको भ्रम गयो ज्यों तिमिर भागै भानसों। सोही जीव कर्मको करता सो दीसे पै है अकरता कह्यो शुद्धता के परमानसों" फिर शिष्य पूछता है।

"कोऊ शिष्य कहै स्वामी रागद्वेप परिणाम ताकों मूल प्रेरक कहहु तुम कौन है। पुद्गलकर जोग किधो इन्दिनी को भोग किधो धन किधो परिजन किधो भोन है। गुरु कहै छहों द्रव्य अपने अपने रूप सबको सदा असहाई परिणान है। कोऊ द्रव्य काहुको न प्रेरक कदापि जांते राग द्वेष मोह मृषामदिरा अचोन है।" अतः इस उपरोक्त कथनसे कांजी स्वामीका कहना ठीक है कि तब तक निमित्त कुछ नहीं कर सकता जबतक कि उपादान स्वयं सनमुख न हो क्योंकि सब द्रव्य अपने अपने स्वभाव रूप ही परिणमन करते है दूसरा द्रव्यका असर दूसरे द्रव्य पर नहीं पडता सबका असहाय परिणमन है इसलिये निमित्तसे लाभ होना मानते है सो मिथ्या है।

ठीक है इस बात का निषेध कोन करता है कि सब द्रव्य अपने स्वभावरूप परिणमन नहीं करते परन्तु जिस द्रव्य का स्वभावही निमित्त मिलने पर विभाव रूप परिणमन करनेका है उस स्वभाव को कोन मेट सकता है। जीव और पुद्गल में अनंत शक्तियों की तरह उनमें एक वैभाविकी शक्ति भी है जो जैसा निमित्त निले वैसा वह जीव और पुद्गल परिणमन करें किन्तु अन्य चार द्रव्यों में वैभाविकी शक्ती नहीं है इस कारण उनको कैसा ही निमित्त मिले वे अपने स्वभावसे टससे मस नहीं होते किन्तु जीव और पुद्गल में यह बात नहीं है क्योंकि इन में स्वभाव की शक्ति का अभाव है इनमें एक वैभाविकी

शक्तिही है। उसीप्रकार शुद्धाशुद्ध दोरूप परिणमन होता है निमित्त मिले तो विभाव रूप परिणमन करें निमित्त न मिले तो स्वभाव रूप में अवस्थित रहे। यह शक्ति विशेष का कारण है। जीव और पुद्गल में वैभाविकी शक्ति के निमित्त से इन दोनों में अनादि काल से परस्पर में सम्बन्ध लगा हुआ है अर्थात् जीव और पुद्गल यह दोनों द्रव्य विभावकी शक्ति के निमित्त से क्षीर नीरकी तरह एक क्षेत्रावगाही हो रहे हैं। यह विभाव की शक्तिकाही विभावरूप परिणमन है। द्रव्य कर्म के उदय में यह जीव राग द्वेप रूप परिणमन करता है और जीव के राग द्वेप परिणमन के निमित्त से पुद्गल द्रव्य कर्म रूप परिणमन कर जीव के साथ बन्ध को प्राप्त हो जाता है। इसीका नाम संसार है। इन दोनों के सम्बन्ध से ही सप्त तत्त्व नो पदार्थ, गुणस्थान मार्गणा, आदि की व्यवस्था अनादि कालीन बनी हुई है। अतः जडचेतनके सिवाय संसार में और कुछ भी नहीं है। इनदोनोंका ही सब खेल है। धर्म अधर्म आकाश और काल इनका भी समावेश जडमें हो जाता है। इसकारण मूलतत्त्व जीव और अजीव यह दो ही हैं। कहा भी है :—

"जीवमजीवं दव्वं जिणवरवसहेण जेण णिदिट्ठं।
देविन्दवंदवंद्यं वंदे तम् सव्वदा सिरसा।"

जीव और पुद्गल के सम्बन्ध से ही आश्रव बन्ध संवर निर्जरा और मोक्ष यह पांचतत्त्व और बनते हैं। पुन्यपाप का

सम्बन्धमिलाने से इन्हीं में नोपदार्थ बन जाते हैं यदि इन दोनों द्रव्योंका विभावरूप परिणमन न माना जायगा तो यह आश्रवादितत्त्व भी नहीं बनेंगे फिर संसारका ही अभाव मानना पडेगा जो अनादि निधन है। जबतक इनदोनों का परस्परमें सम्बन्ध है तबतक यह व्यवस्था है। जब इन दोनों का सम्बन्ध विछोह होजाता है तब इन दोनों में ही विभाव रूप परिणमन का अभाव हो जाता है फिर दोनोंही का शुद्धरूप परिणमन होनेलगता है इसीका नाम मोक्ष है। फिर यह जीव ऊपरकी व्यवस्थासे मुक्त हो जाता है वहांपर जीवका विभावरूप परिणमन नहीं होता क्योंकि वहांपर विभावरूप परिणमन कराने के कारणों का अभाव है। अतः कारणों के अभावमें कार्योंका अभाव अवश्यंभावी माना गया है। इसलिये ही अपना कल्यान चाहने वाले जीवों को बाधक कारणों को हटाकर साधक कारणों(महाव्रतादिक) के निमित्तों को मिलाना परमावश्यक है यदि अन्य चारद्रव्योंकी तरह इन जीव और पुद्गलमें भी सदा शुद्ध ही परिणमन माना जायगा तो संसारकी अवस्था ही नहीं बनेगी और न संसारसे निकलनेका उपायही करना पडेगा और न जीवके साथ सप्ततत्त्वादिककी व्यवस्था ही बनेगी जो अनादिकालसे जीव के साथ लगी हुई है।

अतः इस बातको स्वीकार करना पडेगा कि पुद्गलके (कर्मोंके) निमित्तसे जीवका और जीवके निमित्तसे पुद्गलका

विभाव परिणमन होता है। यह बात समयसारमें भी कही गई है।

"जैसे एक जल नाना रूप दरवानुयोग भयौ बहु भांति पहिचान्यों न परत है। फिर काल पाय दरवानुयोग दूर होत अपने सहज नीचे मारग ढरत है। तैसें यह चेतन पदारथ विभावतासों गति योनि भेष भव भामरि भरत है। सम्यक् स्वभावपाय अनुभौके पंथ ध्याय बन्धकी जुगति भानि मुकति करत है।

शुद्ध भाव चेतन अशुद्ध भाव चेतन दोहूँको करतार जीव और नहीं मानिये। कर्मपिण्डको विलास वर्ण रस गंधफास दूहूंको करतार पुद्गल परमानिये। तातैं वर्णादि गुण ज्ञानावर्णादि कर्म नाना परकार पुद्गलरूप जानिये। समल विमल परिणाम जे जे चेतनके ते सब अलख पुरुष यों बखानिये।"

"एक जीव वस्तुके अनेक गुणरूप नाम निज जोग शुद्ध पर जोग सुं अशुद्ध है। वेदपाठी ब्रह्म कहैं मीमांसक कर्म कहैं शिवमति शिव कहैं बोध कहैं बुद्ध है। जैनी कहै जिन, न्यायवादी करतार कहै छहों दरशनमें वचनको विरुद्ध है। वस्तुको स्वरूप पहिचाने सो ही परवीण वचनके भेद भेद माने सो ही शुद्ध है"

"जबलग कर्म चेतना भारी, तब लग जीव विकल संसारी। जब घट ज्ञान चेतना जागी, तब समकित सहज वैरागी।"

"मन वच काया कर्मफल कर्मदशा जड अंग।
दरवित पुद्गलपिण्डमें भावित कर्म तरंग॥"

"एकमें अनेक है अनेकमें एक है सो एक न अनेक कछु कह्यो न परत है। करता अकरता है भोगता अभोगता है उपजे न उपजत मरे न मरत है। बोलत विचारत न बोले न विचारे कछु खेलको न भाजन पै खेलसो करत है। ऐसो प्रभु चेतन अचेतनकी संगतिसे उलट पलट नट बाजीसी करत है।"

इसकथनसे यह बात अच्छी तरहसे सिद्ध हो जाती है कि जीव पुद्गल जीवका निमित्त पाकर दोनोंही विभावरूप-परिणमन करने लग जाते हैं।

ऊपरमें जो यह कहा गया था कि छहों द्रव्य अपने अपने स्वभाव स्वरूप सदा असहाय परिणमन करते रहते है और यहां पर यह बताया गया है कि एक जीवके अनेक गुनरूप नाम हैं वह परजोगसे अशुद्ध है तथा निजजोगसे शुद्ध है इस बातसे कोई यह न समझलें कि आगममें विरोध लिये कथन है। एक जगह तो सब द्रव्योंका अपने रूप असहाय परिणमन बतलाया और दूसरी जगह पर जोगसे अशुद्ध बतलाया। इसका कारण यह है कि सब द्रव्योंकी परिणमन शक्ति भिन्न भिन्न रूप स्वतंत्र है किसीके सहायतासे वह परिणमन शक्ति प्रगट होती हो सो बात नहीं है। अपने परिणमनको आप ही करता है दूसरा कोई नहीं कराता इस अपेक्षा ऐसा कहा गया है कि सब द्रव्य अपने अपने रूप-असहाय परिणमन करते हैं किन्तु जीव और पुद्गल इन दोय द्रव्योंका ऐसा ही स्वभाव है जो उनको जैसा निमित्त मिले

वह वैसा परिणमन करने लग जाता है। क्योंकि इन दोनों द्रव्योंमें जो एक वैभाविकी शक्ति है वह ऐसा कार्य कराती है। उनका परिणमन तो विभावरूप स्वयं होता है। पर निमित्त मिलनेसे होता है। ऐसा उस विभावकी शक्तिका स्वभाव है। इस अपेक्षा ऐसा कहा गया है कि पर जोगसे अशुद्ध है। अतः आगममें कहीं पर भी विरोध लिये कथन नहीं है जहां विरोध भासता है वहां पर अपेक्षा भिन्न है। यदि आगममें विरोध हो तो वह आगम ही नहीं आगमाभास है क्योंकि उसमें आगमका लक्षण घटित नहीं होता।

आगमका लक्षणही आचार्योंने ऐसा किया है कि आप्तका कहा हुआ हो वादी प्रतिवादी द्वारा खंडन करनेमें न आवे, प्रत्यक्ष अनुमानादि प्रमाणोंसे विरोध रहित हो सब जीवोंका हित करने वाला हो, और मिथ्या मार्गका खंडन करने वाला हो वही सच्चा शास्त्र कहा जा सकता है। किन्तु जो इसके विपरीत है अर्थात जिसमें पूर्वापरविरुद्ध कथन पाया जाता हो और वादी प्रतीवादीयों द्वारा जिसका खंडन किया जासकताहो एवं जीवोंको मिथ्यामार्ग में लगाने वाला हो जो ऐसा शास्त्र है वह शास्त्र नहीं शस्त्र है, शस्त्र द्वारा जिस प्रकार जीवोंका वध होता है उसी प्रकार ऐसे शास्त्रों द्वारा जीवों का अहित ही होता है। किन्तु जैनागम सर्वज्ञ भाषित होनेसे उसमें कहीं पर भी विरोध नहीं आसकता है। जो जैनागममें विरोध समझता है

वह अज्ञानी है, अपेक्षा को नहीं समझता है इसलिये उसको जैनागममें विरोध भासता है।

यहां पर एक यह शंका हो सकती है कि जब जीवके निमित्तसे पुद्गलका और पुद्गलके निमित्तसे जीवका विभाव परिणमन होता है तब इस हालतमें केवली भगवानका भी विभाव परिणमन होना चाहिये क्योंकि उनके साथ भी पुद्गल द्रव्यका सम्बन्ध लगा हुआ है। किन्तु उनका विभाव परिणमन नहीं होता दूसरी बात यह है कि जीवके साथ पुद्गलका सम्बन्ध अनादि कालसे लगा हुआ है इस हालतमें जीवका पुद्गलसे सम्बन्ध छूट कर मोक्ष होना भी दुसाध्य हो जायगा क्योंकि इनका परस्परमें निमित्त नैमित्तिक सम्बन्ध लगा हुआ है। कर्मोंके उदयमें जीव रागादि रूप परिणमन करता है और जब जीव रागद्वेषरूप परिणमन करता है तब पुद्गल कर्मरूप परिणमन कर जीवके साथ एकक्षेत्रावगाही होकर बन्धको प्राप्त हो जाता है। इस तरह इनका परस्परका सम्बन्ध अनादिकालसे चला आरहा है। इस हालतमें जीवका उद्धार होना दुसाध्य ही है इसलिये पुद्गलके निमित्तसे जीवका और जीवके निमित्तसे पुद्गलका विभाव परिणमन होता है ऐसा मानना मिथ्या है। इस शंकाका समाधान यह है कि विभाव परिणमन तो आत्मा का मोहनीय कर्मके उदयमें ही होता है। मोहनी कर्म के अभावमें आत्माका विभावपरिणमन नहीं होता है

जब चारघातिया कर्मोंका अभाव होजाता है तब केवली भगवानके आत्म गुणोंका शुद्ध ही परिणमन होने लगता है। जबतक घातिया कर्मोंका आत्माके साथ सम्बन्ध रहता है तब तक ही आत्माका विभाव परिणमन होता है। जिसमें मुख्य मोहनी कर्मही विभाव रूप परिणामन कराने में कारण है अन्य तीन घातिया कर्म विभाव रूप परिणमन करानेमें कारण तो नहीं हैं किन्तु आत्मगुणोंको आच्छादित अवश्य करते है। जब मोहनी कर्मका नाश हो जाता है तब उसके साथ ज्ञानावरणी दर्शनावरणी और अंतरायकर्मका नाश होकर अनंत ज्ञान अनंत दर्शन अनंत सुख और अनन्त वीर्यरूप चार चतुष्टय आत्माके निज स्वरूप प्रगट होजाते हैं। तो भी चार अघातिया कर्मोंका जबतक सम्बन्ध सर्वथा नहीं छूटता तब तक केवली भगवानके भी अनइच्छा विहार दिव्यध्वनी का होना, नो कर्म वर्गणाका ग्रहण और ईर्यापथिक आश्रवका होना यह कार्य हुये विना नहीं रहता। इसलिये जबतक आत्माके साथ पर सम्बन्ध रहता है तब तक जितना पर सम्बन्ध रहता है उतना ही आत्माका विभावरूप या योगनिमित्तरूप परिणमन हुये विना नहीं रहता इसलिये पर सम्बन्ध हटानेके लिये आत्मा को उपदेश दिया गया है। अतः जितने अंशोंमें वाह्याभ्यन्तर परिग्रहोंका सम्बन्ध दूर होता है उतने ही अंशोंमें आत्माका विभावरूप परिणमन कम होता जाता है इसीका नाम व्रत है।

जितने अंशोंमें जिसकी विभावता कम होती जायगी उतने ही अंशोंमें वह जीव व्रती कहलानेका हकदार होता है अतः जब पूर्णरूपसे विभावता मिट जाती है तब वह पूर्ण व्रती यथाख्यात चारित्री कहलाता है फिर विन इच्छा कुछ काल योगरूप प्रवृत्ति होकर मोक्षमें जा विराजते है इसलिये ये आत्म स्वभावकी प्राप्ति के लिये अर्थात् विभावता मिटानेके लिये परिग्रहोंका सम्बन्ध छोडदेना परमकल्याणकारी है। परिग्रहोंके त्यागका नाम ही धर्म है "चारित्रं खलु धम्मो" परिग्रहोंके त्यागसे ही विभावता मिटती है इसको व्रत कहो या धर्म कहो एक ही बात है क्योंकि स्वभावमें आनाही धर्म है अथवा व्रत है इसको मिथ्यात्व-बतलाना मिथ्यात्व है।

जब यह जीव सम्यक्त्व प्राप्त करनेके उपायोंसे सम्यक्त्व प्राप्त कर लेता है तब उसके आत्म द्रव्यके सिवाय परमें अहं बुद्धि नष्ट होजाती हे जब परमें अहं बुद्धि नष्ट हो जाती है तब वह उनसे सम्बन्ध छोडनेकी भावना भाता है एवं अपनी शक्ति के अनुसार उनसे सम्बन्ध छोडता भी जाता है इस प्रकार जब पूर्णतया परसे सम्बन्ध छोड देता है तब वह पूर्णव्रती बनकर मोक्ष अवस्था प्राप्त कर लेता है। अतः यह समझना कि जब पुद्गलके निमित्तसे जीवके राग द्वेष होते ही हैं और राग द्वेषके निमित्तसे पुद्गल कर्म रूप होकर जीवके साथ बन्धको प्राप्त हो जाते है इस हालत मे जीवकी संसारसे मुक्ति कभी भी नहीं हो

सकती है ऐसा समझकर जो निमित्त कारणोंको फिजूल समझें क्योंकि जब जीवके निमित्तसे पुद्गल और पुद्गलके निमित्तसे जीव विभाव रूप परिणमन करता है तब इस हालतमें जीवकी मुक्ति तो होगी ही नहीं फिर निमित्त मिलाना और निमित्त हटाना फिजूल का कार्य है ऐसा समझकर जो निमित्तका निषेध करना है यह भारी अज्ञानता है क्योंकि पुद्गलके निमित्तसे जीवका और जीवके निमित्तसे पुद्गलका विभाव परिणमन होता है इसलिये ही तो इनका सम्बन्ध हटानेका उपदेश आचार्योंने दिया है जिस प्रकार इनका सम्बन्ध हटे उसी प्रकार साधक और बाधक कारणोंको जुटाना तथा हटाना जरूरी है। जब हम कषाय होनेके कारणों को हटा देंगे तब हमारे रागद्वेष क्यों होंगे अर्थात नहीं होवेंगे इसलिये विभाव परिणाम न होनेके कारणों को जुटाना और विभाव परिणाम होनेके कारणोंको हटाना सार तत्त्व है। इसी प्रकार करनेसे ही मोक्ष सुखकी प्राप्ति हो सकती है।

अथवा यह समझकर निमित्तका निषेध करना कि जीव के निमित्तसे पुद्गलका और पुद्गलके निमित्तसे जीवका विभाव परिणमन नहीं होता है यह भी अन्य द्रव्योंकी तरह अपने स्वभाव रूपही परिणमन करता है इसलिये निमित्त मिलानेकी क्या जरूरत है निमित्त तो जब मिलाया जाय अथवा हटाया जाय जबकि निमित्त कारण मिलने पर इनका विभाव

स्वभाव रूप परिणमन होता हो, सो तो होता नहीं, सब द्रव्य अपने अपने स्वभाव रूपही परिणमन करते हैं अत :निमित्त मिलानेकी और निमित्त हटाने की कोई जरूरत नहीं ऐसा समझ करभी जो निमित्त कारणोंका निषेध करता है वह अज्ञानी है क्योंकि जीव और पुद्‍गलमें विभाव रूप परिणमन करनेकी जो एक शक्ति है उसका दो रूप परिणमन होता है जब उसको विभाव रूप परिणमन कराने का निमित्त मिलता है तब तो उस शक्तिका दोनोंमें विभाव रूप परिणमन होता है जब उसको विभाव रूप परिणमन करानेका निमित्त कारण नहीं मिलता है तब उस शक्तिका दोनोंमें स्वभाव रूप परिणमन होता है इस कारण विभाव रूप परिणमन न होनेके निमित्त कारणोंको मिलाना और विभाव रूप परिणमन होने के निमित्त कारणोंको हटाना यह ज्ञानी जीवका परम कर्तव्य है।

कोई ऐसा भी न समझें कि जीव और पुद्‍गलमें विभाव की और स्वभावकी दो शक्तिया हैं जो संसार अवस्थामें तो विभावकी शक्तिका कार्य विभावरूप होता रहता है जब जीव की मुक्ति हो जाती है तब स्वभावकी शक्तिका वहां पर स्वभावरूप कार्य होता रहता है। ऐसा माननेमें बडा भारी दोष आता है क्योंकि शक्ति कोईभी कूटस्थ नहीं रहती सब शक्तियोंका समय समय प्रति षट् गुणहानि वृद्धिरूप परिणमन होता ही रहता है। तथा किसी शक्तिका किसी समय नाश भी नहीं होता-

एवं नई शक्तिका उत्पाद भी नहीं होता अतः सत्य वही है जिसका पर्याय अपेक्षा उत्पाद व्यय समय समय प्रति होता हुआ भी द्रव्य अपेक्षा सदा सब समय द्रव्य रूप ही रहता है। सत् का लक्षण भी आचार्योंने ऐसा ही किया है।

"उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सत्" इसलिये दो शक्तियोंके मानने से संसार अवस्थामें स्वभावकी शक्तिको कूटस्थ माननी पडेगी क्योंकि संसार अवस्था में स्वभावकी शक्तिका कोई कार्य दीखता नहीं तथा मोक्ष अवस्थामें विभावकी शक्तिको कूटस्थ माननी पडेगी क्योंकि वहां पर विभावकी शक्तिका कुछ भी कार्य है ही नहीं। अथवा मोक्ष अवस्थामें विभावकी शक्तिका नाश मान लिया जाय और स्वभावकी शक्तिका उत्पाद मान लिया सो ऐसा होता नहीं क्योंकि शक्तिका नाश माननेसे द्रव्यका भी नाश मानना पडेगा परन्तु सत् का कभी नाश नहीं होता और असत् की कभी उत्पत्ति नहीं होती यदि दोनों शक्तियोंका एक साथ शुद्धाशुद्धरूप परिणमन मान लिया जाय सो भी बनता नहीं क्योंकि स्वभावकी शक्ति का कार्य होगा स्वभावरूपमें रखनेका अथवा विभावरूप परिणमन न करने देनेका तथा विभावकी शक्तिका कार्य होगा विभावरूपमें रखनेका अर्थात् स्वभावरूपमें न परिणमन करने देनेका, इस हालतमें शुद्धाशुद्धरूप परिणाम किस प्रकारसे होगा ? और जीवकी मुक्ति भी किस प्रकारसे होगी ? और वहां पर शुद्धाशुद्ध परिणमन कैसा ? इसलिये दो

शक्ति माननेमें अनेक दोष उत्पन्न होते हैं। इसबातका पंचाध्यायी कारने अच्छी तरह खुलासा किया है।

कारणमन्तर्लीना द्रव्यस्य विभावभावशक्तिः स्यात्
सा भवति सहजासिद्धा केवलमिह जीवपुद्गलयोः।

अर्थात् असद्भूतव्यवहारनयकी प्रवृत्ति क्यों होती है इसका कारण बताते हुये कहते हैं कि इसका कारण द्रव्यमें रहने वाली विभावकी शक्ति है, वह ही स्वभाव की शक्ति है यह शक्ति केवल जीव और पुद्गलमें ही पाई जाती है। यह उक्त दोनों द्रव्योंका स्वाभाविक गुण है इस गुणका परके निमित्त से दोनों द्रव्यों का वैभाविक परिणमन होता है। विना परनिमित्त के उनका स्वाभाविक परिणमन होता है। उसी वैभाविक शक्ति के विभावपरिणमनसे असद्भूत व्यवहार नयके विषयभूत जीवके क्रोधादिक भाव बनते हैं।

फलमागन्तुकभावादुपाधिमात्रं विहाय यावदिह।
शेषस्तच्छुद्धगुणः स्यादिति मत्वा सुदृष्टिरिह कश्चित्

भावार्थ—जीवमें क्रोधादि उपाधि है वह आगन्तुक भाव कर्मों से हुई है उपाधिको दूर करदेनेसे जीव शुद्ध गुणोंवाला प्रतीत होता है अर्थात् जीवके गुणोंमेंसे पर निमित्तसे होनेवाली उपाधि को दूर करदेनेसे बाकी उसके चारित्र आदि शुद्ध गुण प्रतीत होने लगते हैं। ऐसा समझकर जीवके स्वरूप को पहिचान कर

कोई मिथ्यादृष्टि अथवा विचलितवृत्ति जीव भी सम्यग्दृष्टि हो सकता है। वस यही इस नयका लक्षण है।

अयसकान्तोपलाकृष्टसूचीव तद्द्वयोः पृथक्।
अस्ति शक्तिर्विभावाख्या मिथो वन्धाधिकारिणी ॥

अर्थात् जिसप्रकार चुम्बक पत्थरमें सुई खींचने की शक्ति है उसी प्रकार सुईमें खिचजानेकी शक्ति है इसी तरह जीव और पुद्गलमें एक वैभाविकी शक्ति है जो कि दोनों में परस्पर वन्ध का कारण है अर्थात् इस शक्ति के वलसे जीव पुद्गल को खेंच कर अपने प्रदेशोंमें एक क्षेत्रावगाही वना लेता है और पुद्गल खिंचकर जीवके साथ एक क्षेत्रावगाही होजाता है जब जीव और पुद्गल दोनोंमें क्रमसे बांधने और वन्धनेकी शक्तिहै तब दोनों का आत्मक्षेत्रमें वन्ध हो जाता है। आत्मामें ही बान्धनेकी शक्ति है इसलिये आत्मामें ही कर्म आकर वन्ध जाते हैं। जीव और पुद्गल ही अपनी शुद्ध अवस्थाको छोडकर वन्ध रूप अशुद्ध अवस्था में क्यों आते हैं, शेप चार द्रव्य धर्म, अधर्म, आकाश और काल यह क्यों नहीं अशुद्ध होते इसका यही कारण है कि वैभाविक नामा गुण जीव और पुद्गलमें ही है इसलिये इन दोनों में ही विकार होता है शेप द्रव्योंमें नहीं होता।

इस वैभावकी शक्तिके कारण जीवके मति श्रुत अमूर्त ज्ञान भी मूर्त कहलाने लग जाते हैं।

"नासिद्धश्चोपचारोयं मूर्तं यत्तत्वतोपि च।
वैचित्र्याद्वस्तुशक्तीनां स्वतः स्वस्यापराधतः॥"

अर्थात् मतिज्ञान श्रुतज्ञानको वास्तवमें अमूर्त कहा गया है क्योंकि आत्मा अमूर्तिक है और ज्ञान उसका गुण है इसलिये उक्त ज्ञान अमूर्तिक है किन्तु उपचार से उसको मूर्त कहा गया है। उस उपचारको कुछ न समझकर या असिद्ध समझकर जो कोई उक्तज्ञानोंको सर्वथा अमूर्त ही है ऐसा समझते हों उनके लिये कहा जाता है कि जिस उपचार से उक्त ज्ञानोंको मूर्त कहा गया है वह उपचार भी असिद्ध नहीं है किन्तु सिद्ध ही है। दूसरी तरह से यह भी कहा जासकता है कि वास्तव में भी उक्त दोनों ज्ञान मूर्त हैं। यहांपर यह शंका हो सकती है कि वास्तवमें अमूर्त पदार्थ मूर्त कैसे हो सकते है, इसकेलिये आचार्य कहते हैं कि वस्तुओंकी शक्तियां विचित्र हैं। किसी शक्तिका कैसा ही परिणमन होता है और किसी शक्तिका कैसा ही। आत्मा का ज्ञान गुण अमूर्त है वह मूर्त कैसे होगया और वस्तुशक्तिका ऐसा परिणमन क्यों हुआ इसमें किसीका दोष नहीं है। स्वयं आत्माने अपना अपराध किया है जिससे उसे मूर्त बनना पडा है।

"मुख्याभावे सति प्रयोजननिमित्तेनोपचारः प्रवर्तते।"

जहांपर मूलपदार्थ नहीं परन्तु किसी प्रकार प्रयोजन उससे सिद्ध होता हो अथवा वह किसी कार्यमें निमित्त पडता हो तो ऐसे स्थलमें उपचारसे उसकी सत्ता स्वीकार कीजाती है। जैसे किसी

बालकमें तैजसत्त्वगुण है उसको देखकर अग्निका फुलंगा कह-दिया जाता है वास्तवमें वह अग्निका ही कण नहीं है क्योंकि उसमें उष्णतादि गुण यद्यपि नहीं है तथापि तैजसत्त्व गुणके प्रयोजनसे उसे उक्त अग्नि कहदिया जाता है। अतः वह अग्निका उपचार उस बालकमें सर्वथा असत्य नहीं होता। ज्ञानमें जो मूर्ततांका उपचार किया गया है वह कर्मके निमित्तसे है दूसरे आत्माके साथ कर्मका अतिघनिष्ट सम्बन्ध अनादिकालका होनेसे आत्मा का विपाक ही वैसा होने लगा है इसलिये कहना पडता है कि आत्मा मूर्त है। मूर्ततामें एक हेतु यह भी है कि आत्माने अपना निजस्वभाव छोड रखा है। इसकारण जीवका परिणमन इसरूप हो रहा है। इसीबातको बतलाते हैं—

"अप्यस्त्यनादिसिद्धस्य सतः स्वाभाविकी क्रिया।
वैभाविकी क्रिया चास्ति पारिणामिकशक्तितः॥

अर्थात अनादि सिद्ध सत्ता रखनेवाले इस जीवात्माके दोप्रकारकी क्रियाये होती है एकस्वाभावकी क्रिया और दूसरी वैभाविकी क्रिया यह दोनों प्रकारकी क्रिया शक्तियों के परिणमनशील होनेसे होती है। क्योंकि सम्पूर्णशक्तियां परिणमनशील है एक अवस्था को छोडकर दूसरी अवस्था धारण करती रहती है। परिणमन के कारण ही जीवात्मामें स्वभाव परिणमन और विभाव परि-णमन दोनों प्रकार का परिणमन होता है। अतः वैभाविकी शक्ति आत्माका गुण है उसका कभी नाश नहीं होता।

"न परं स्यात्परायत्ता सतो वैभाविकी क्रिया।
यस्मात्सतोऽसतीं शक्तिं कर्तुमन्यैर्न शक्यते॥"

यदि कोई वैभावकी शक्तिको पराधीन ही समझे तो उसके लिये आचार्य कहते है कि वैभावकी शक्ति आत्माका ही निज गुण है क्योंकि जिसमें जो गुण नहीं है वह दूसरों से नहीं आसकता। आत्माके अन्यगुणोंकी तरह एक वैभाविक गुण भी है उसी वैभाविक गुणका विभाव परिणमन होता है और स्वभाव परिणमन होता है। यदि वैभाविक गुण आत्मा का निज गुण नहीं होता तो आत्मामें विभाव स्वभावरूप परिणमन भी नहीं होता। शंकाकार कहता है कि जिस समय ज्ञेयके निमित्तसे ज्ञान ज्ञेयाकार हो जाता है उससमय ज्ञान ज्ञान ही रहता है वह ज्ञेय नहीं हो जाता जैसे घटका ज्ञान होनेसे ज्ञान घटरूप नहीं होता, ज्ञान ज्ञान रूप ही रहता है। इसीप्रकार मदिराके निमित्तसे जो ज्ञान मद्याकार मलीन तथा मूर्छित हो जाता है। वह भी ज्ञान ज्ञान ही है, मदिरामय विकारी कभी नहीं होता। शंकाकारकी दृष्टि में वैभाविक परिणमन कोई चीज नहीं है उसका कहना है कि जिस समय मदिराके निमित्तसे ज्ञान मालिन्यरूपमें आता है उस समय वह ज्ञान ही तो है चाहे वह किसीरूपमें क्यों न हो। शंकाकारकी दृष्टिमें ज्ञेयके निमित्तसे बदलने वाले ज्ञानमें कुछ भी अन्तर नहीं है इसलिये उसके कथनानुसार स्वभावकी शक्ति ही माननी चाहिये जैसे कांजी आत्माको सदा शुद्ध ही मानते हैं। वैभाविक शक्तिकी कोई आवश्यकता नहीं।

"तस्माद्यथा घटाकृत्या घटज्ञानं न तद्घटः।
मद्याकृत्या तथा ज्ञानं ज्ञानं ज्ञानं न तन्मयम्॥"

इसका आचार्य उत्तर देते हुये लिखते हैं कि—

"नैवं यतो विशेषोस्ति बद्धाबद्धावबोधयोः।
मोहकर्मावृतो बद्धः स्यादबद्धस्तदत्ययात्॥"

ऊपरमें शंकाकारकी तरफसे कहा गया था कि मदिराके निमित्तसे बदला हुवा ज्ञानभी ज्ञानही है और ज्ञेयाकार होने वाला ज्ञानभी ज्ञानही है, ज्ञानपना दोनोंमें समान है इसके उत्तर में आचार्य कहते हैं कि यह बात नहीं है। क्योंकि विना किसी अन्य निमित्तके केवल ज्ञेयके निमित्तसे ज्ञेयाकार होनेवाले ज्ञानमें और मदिराके निमित्तसे बदलनेवाले ज्ञानमें बडा अंतर है। मदिराके निमित्तसे जो ज्ञान बदलता है वह ज्ञान मलीन है उस ज्ञानमें यथार्थता नहीं है। यथार्थता उसी ज्ञानमें है जो कि वस्तुको यथार्थ ग्रहण करता है। जो ज्ञान केवल ज्ञेयके निमित्तसे ज्ञेयाकार होता है वह वस्तुको यथार्थ रूपसे ग्रहण करता है इसलिये दोनों ज्ञानोंमें बडा अंतर है। अतः जीवोंका ज्ञान दो प्रकार का है एक बद्धज्ञान और दूसरा अबद्धज्ञान। जो मोहनी कर्मसे ढका हुआ है अर्थात् जिसके साथ मोहनी कर्म लगा हुआ है उसको तो बद्धज्ञान अर्थात् बन्धा हुआ ज्ञान कहते है। और जो मोहनी कर्म से रहित हो चुका है ऐसा ज्ञान अबद्ध ज्ञान कहलाता है।

इस कारण बद्धज्ञानमें बडा भारी अंतर है। इसी अंतर को आचार्य दिखलाते हुये कहते है कि—

"मोहकर्मावृतं ज्ञानं प्रत्यर्थं परिणामयत्।
इष्टानिष्टार्थसंयोगात् स्वयं रज्यद्विषद्यथा ॥"

जो मोहनीकर्म से ज्ञान आवृत हो रहा है वह जिस पदार्थ को जानता है उसी उसी पदार्थ में इष्ट और अनिष्ट बुद्धि होने से स्वयं रागद्वेष करता है। यद्यपि प्रत्येक वस्तु को क्रम क्रमसे जानना ऐसी योग्यता ज्ञान में ज्ञानावरणीय कर्म के निमित्त से होती है तथापि इष्टरूप या अनिष्टरूप जैसे पदार्थ मिलते हैं, उन पदार्थोंमें राग द्वेष रूप वुद्धिका होना यह वात ज्ञानावरणी कर्म के निमित्त से नहीं होती किन्तु मोहनी कर्म के निमित्त से यह बात ज्ञानमें आती है। अतः इसी प्रकार मदिरा के निमित्तसे दूषित ज्ञानमें और ज्ञेयाकार परिणामन करने वाले ज्ञान में वडा भारी अंतर है। मदिरा भी मोहनी कर्म के समान ज्ञान को दूषित बना देता है। इसलिये मदिरा के ज्वलंत उदाहरणासे यह वात भले प्रकार सिद्ध हो जाती है कि इनके निमित्त से मतिज्ञान और श्रुतज्ञान अमूर्त होने पर भी मूर्त हो जाते हैं। उसी प्रकार अमूर्त जीवात्मा भी मूर्तिमान कर्मों से वन्ध कर कथंचित मूर्तमान हो जाता है। यह निमित्तका फल है। कर्मों के साथ बन्धने का कारण आत्मा का विभाव परिणामन है जब आत्मा की वैभाविकी शक्ति उपयुक्त अवस्था में आती है तब आत्मा के गुणों की संक्रांति

च्युत होती है। गुणों का अपने स्वरूप से च्युत होनेका ही नाम बन्ध है और वह बन्ध दूसरे के निमित्त कारण से होता है। अर्थात् राग द्वेष के निमित्त कारणों से वैभाविकी शक्तिका परिणमन विभावरूप होता है। जो वैभाविक शक्ति का विभाव-रूप परिणमन है वही परिणमन वैभाविक शक्ति की उपयोगी अवस्था है। उसी अवस्था में आत्मा अपने स्वरूप से गिर जाता है। वही बन्धका यथार्थ स्वरूप है। इसी बात को दिखलाते हुये आचार्य बतलाते हैं—

अथवैभाविकी शक्तिर्या सा चेदुपयोगिनी।
तद्गुणाकारसंक्रांतिर्बन्धः स्यादन्यहेतुकः॥

इसको और भी स्पष्ट करके दिखलाते है।

"तत्र बन्धनहेतुः स्याच्छक्तिर्वैभाविकी परम्।
नोपयोगोपि तत्किन्तु परायत्तं प्रयोजकम्"॥

अर्थात् आत्मा के गुणों की च्युति होने रूप बन्धमें केवल वैभाविकी शक्ति ही कारण नहीं है। अथवा उसका केवल उपयोग भी कारण नहीं है किन्तु पराधीनता ही प्रयोजक है। किन्तु कांजी इस बात को नहीं मानते। वे आत्मा को सदा स्वतंत्र और त्रिकाल केवली मानते हैं यह बात पहिले दिखाई जा चुकी है।

आचार्य कहते हैं कि बन्ध का कारण यदि वैभाविक शक्ति ही हो तो वह शक्ति नित्य है सदा आत्मा में रहती है। इसलिये

आत्मा में सदा बन्ध ही होता रहेगा। आत्मा मुक्त कभी न हो सकेगा अथवा मुक्त आत्मा भी बन्ध करने लगेगा। इसलिये केवल शक्ति ही बन्धका कारण नहीं है। तथा केवल उपयोग भी बन्धका कारण नहीं है क्योंकि उपयोग नाम शक्तिके परिणमनका है। वह परिणमन शक्तिकी स्वभाव- अवस्थामें भी होता है और विभाव अवस्थामें भी होता है। यदि शक्तिका शुद्ध उपयोग भी बन्धका कारण हो तो वही दोष आता है जो ऊपर कहा जा चुका है इसलिये पुद्गलके निमित्तसे जो वैभाविक शक्तिका विभावरूप उपयोग है वही बन्धका कारण है। इस कथनसे बन्धके कारणमें पुद्गलकी मुख्यता ली गई है। इसी बातको और भी स्पष्ट करके बतलाते हैं—

"अस्ति वैभाविकी शक्तिस्तत्तद्द्रव्योपजीवनी।
सा चेद्बन्धस्य हेतुः स्यादर्थान्मुक्तेरसंभवः॥"

अर्थात् जीवका और पुद्गलका वैभाविक उपजीवी गुण है। यदि वही बन्धका कारण हो तो जीवकी मुक्ति कभी भी नहीं हो सकती क्योंकि जो गुण भावरूप है उन्हींको उपजीवी गुण कहते हैं। जिस प्रकार आत्माके ज्ञान सुख दर्शन वीर्य अस्तित्व वस्तुत्व आदि उपजीवी गुण है उसी प्रकार वैभाविकगुण भी उपजीवी आत्माका गुण है इसलिये वह बन्धका हेतु नहीं हो सकता है।

उपयोगः स्यादभिव्यक्तिः शक्तेः स्वार्थाधिकारिणी।
सैव बन्धस्य हेतुश्चेत् सर्वो बन्धः समस्यताम्॥"

अर्थात् शक्तिकी स्वरूपात्मक व्यक्तताका नाम ही उपयोग है। यदि वही वन्धका हेतु हो तो सब ही वन्धविशिष्ट हो जायंगे।

भावार्थ—वैभाविक शक्तिका अपने स्वरूपको लिये हुये प्रगटपना शुद्ध अवस्थामें होता है वह उक्तशक्तिका स्वभाव परिणमन कहलाता है वह स्वभाव परिणमन बन्धका कारण नहीं है किन्तु बन्धका कारण दूसरा ही है।

"तस्मात्तद्धेतुसामग्री सान्निध्ये तच्छुद्धाकृतिः।
स्वाकारस्य परायत्ता तया बद्धोऽपराधवान्॥"

अर्थात् बन्धका कारण कलाप मिलने पर यह स्वयं अपराधी आत्मा परतंत्र होता हुआ बन्ध जाता है उसी समय आत्माके निजगुणोंका स्वरूप अपनी अवस्था को छोडकर विभाव विकार अवस्थामें आजाता है इसलिये संसारी आत्मा कर्मोंके परतन्त्र है। यह बात भी असिद्ध नहीं है प्रसिद्ध दृष्टांतसे यह बात सिद्ध ही है। जिस समय यह आत्मा ठंड या गर्मी का अनुभव करने लगता है, उस समय यह मूर्ख आत्मा अपनी आत्मा को ही ठंड या गर्म समझने लगता है। यह मूर्खता इसकी कर्मोंकी परतंत्रतासे होती है—

"नासिद्धं तत्वपरायत्तं तत्सिद्धं संद्रष्टितो यथा।
शीतमुष्णमिवात्मानं कुर्वन्नात्माप्यनात्मवित्॥"

शंकाकार कहता है क्या वैभाविक शक्तिका विभावरूप परिणमन दूसरेके निमित्तसे होता है दूसरेके निमित्त बिना नहीं होता अथवा वैभाविक शक्ति वास्तवमें है या नहीं?

"ननु वैभाविकी शक्तिस्तथा स्यादन्ययोगतः।
परयोगं विना किं न स्याद्वाऽदोस्ति तथान्यथा" ॥

आचार्य उत्तरदेते हुये कहते है—

"सत्यं नित्यं तथा शक्तिःशक्तित्वाच्छुद्धशक्तिवत्।
अथान्यथा सतो नाशः शक्तीनां नाशतः क्रमात्"

अर्थात् वैभाविक शक्ति वास्तवमें है और वह नित्य है क्यों कि जो जो शक्तियां होती है वे सब नित्य ही हुवा करती हैं। जिसप्रकार आत्माकी शुद्ध शक्तियां ज्ञानदर्शनादिक नित्य हैं उसीप्रकार यह वैभाविक शक्ति भी नित्य है। यदि इस वैभाविक शक्तिको नित्य नही माना जाय तो सत्पदार्थका ही नाश हो जावेगा क्योंकि शक्तियोंका गुणोंका समूह ही तो पदार्थ है। जब शक्तियोंका ही क्रमसे नाश होने लगे तो पदार्थ भी अवश्य नष्ट हो जावेगा अंगनाशसे अंगीका नाश अवश्यंभावी है इसलिये वैभाविक शक्ति आत्माका सत्रूप नित्यगुण है। आत्मामे अशुद्धता दूसरेके निमित्तसे होती है, इसी वातको आचार्य वतलाते हैं।

"किन्तु तस्यास्तथाभावः शुद्धादन्योन्यहेतुकः।
तन्निमित्ताद्विना शुद्धो भावः स्यात्केवलं स्वतः ॥"

अर्थात् उस वैभाविक शक्तिकी शुद्ध अवस्थासे जो अशुद्ध अवस्था होती है वह दूसरेके निमित्तसे होती है, वह निमित्त जब

आत्मासे दूर होजाते हैं तव उसशक्तिकी शुद्ध अवस्था होजाती है। इसीवातको दृष्टांतद्वारा स्पष्ट करते हैं।

"नासिद्धोसौ हि सिद्धान्तः सिद्धः सँदृष्टितो यथा
वन्हियोगाज्जलं चोष्णं शीतं तत्तद्‌योगतः ॥"

अर्थात् दूसरेके निमितसे वैभाविक शक्तिका विभाव परिणमन होता है। विना निमित्तके उसीशक्तिका स्वभाव परिणमन होजाता है। यह सिद्धांत असिद्ध नही है। यह वात तो दृष्टांतद्वारा भले प्रकार सिद्ध होजाती है यथा अग्निके निमित्तसे जल गरम होजाता है। और अग्निका निमित्त दूर होजानेसे वही जल अपनी स्वाभाविक शीतल अवस्थामें आजाता है। इस उपरोक्त कथन से क्या कांजी भाई अपनी गलती स्वीकार करेंगे जो निमित्तसे लाभ नुकसान होना माननेवालोंको मिथ्यादृष्टि वतलाते हैं? इस कथनसे मिथ्यादृष्टि कौन होता है निमित्तको माननेवाले या निमित्तको न माननेवाले इसका वाचकवृंद स्वयं विचार करें।

आत्मामें एक स्वाभावकी शक्ति और दूसरी वैभाविकी शक्ति इसतरह दोशक्तियां जो मानते हैं इसका आचार्य निषेध करते हैं।

"ननु चैवं चैका शक्तिस्तद्भावो द्विविधो भवेत्।
एकःस्वाभाविको भावो भावो वैभाविकोऽपरः ॥
चेदवश्यं हि द्वे शक्ती सतः स्तः का क्षतिः सताम्।
स्वाभाविकी स्वभावैः स्वैः स्वैर्विभावैर्विभावजा ॥

सद्भावेथाप्यसद्भावे कर्मणां पुद्गलात्मनाम् ।
अस्तु स्वाभाविकी शक्तिः शुद्धैर्भावैर्विराजिता॥
अस्तु वैभाविकी शक्तिः संयोगात्पारिणामिकी ॥
"कर्मणामुदयाभावे न स्यात्सा पारिणामिकी ।
दंडयोगाद्यथा चक्रं वम्भ्रमत्यात्मनात्मनि ॥
दंडयोगाद्विना चक्रं चित्रं वा व्यवतिष्ठते ।"

अर्थात् दो शक्तियां मानने वाले कहते हैं कि ऊपरके कथन से यह बात सिद्ध होती है कि एक वैभाविकी नामा शक्ति है उसी एक शक्तिकी दो प्रकार की अवस्था होती है। एक स्वाभाविक अवस्था और दूसरी वैभाविक अवस्था यदि ऐसा ही है अर्थात् पदार्थमें स्वाभाव विभाव दोय प्रकारके परिणमन होते हैं तो फिर पदार्थमें दो शक्तियां ही क्यों न मानली जाय इसमें पदार्थोंकी क्या हानि होती है। एक शक्ति मानकर उसकी दो अवस्था माननेकी अपेक्षा दो स्वतंत्र शक्तियां मान लेना ही ठीक है। आत्माके स्वाभाविक भावोंसे होनेवाली स्वाभाविकी शक्ति और आत्माके वैभाविकभावोंसे होनेवाली वैभाविकी शक्ति। इस प्रकार दोनों शक्तियां सिद्ध होती हैं चाहै आत्मामें कर्मोंका सम्बन्ध हो चाहै न हो। आत्मामें शुद्ध परिणमन करानें वाली स्वाभाविकी शक्ति सदा रहती है। यह शक्ति उन्हीं आत्माके अंशोंमें काम करती है जो शुद्ध हैं। तथा कर्मोंका जब-

तक आत्मामें सम्बन्ध रहैगा तब तक वैभाविकी शक्तिका परिणमन होता रहैगा। जब कर्मोंका उदय न रहैगा जब कर्म शांत हो जावेंगे उस समय वैभाविकी शक्तिका परिणमन भी नहीं होगा। उस समय वह बेकार ही पडी रहैगी जिस प्रकार कुम्हारे के चाकको दंडका निमित्त रहता है तबतक वह चाक अपने आप घूमता है। परन्तु जब डण्डेका सम्बन्ध नहीं रहता है तब वह चाक भित्तिमें बनाये हुये चित्रामकी तरह अपने स्थानमें पडा रहता है इसका परिहार करते हुये आचार्य कहते हैं कि—

"नैवं यतोस्ति परिणामिशक्तिजातं सतोऽखिलम्।
कथं वैभाविकी शक्तिर्न स्याद्धिपारिणामिकी॥"

दो शक्तियां मानने वालोंकी तरफसे जो यह कहा गया था कि वैभाविकी शक्ति विना कर्मोदयके चित्रामकी तरह कूटस्थ परिणामशून्य रह जाती है। किन्तु यह बात सर्वथा युक्ति और आगम शून्य है। क्योंकि जितनी भी शक्ति समूह हैं सब परिणमन शील हैं। पदार्थमें ऐसी कोई भी शक्ति नहीं है जो प्रतिक्षण अपनी अवस्थाको न बदलती हो।

फिर वैभाविक शक्ति परिणमन शील क्यों नहीं होगी? जब परिणमन शील है तो कर्मोंके अनुदयमें चित्रकी तरह परिणमन रहित हो जाती है ऐसा कहना सर्वथा आगमके प्रतिकूल है और ऐसाभी नहीं है कि कोई शक्ति परिणामनशील हो और कोई न हो सभी शक्तियां परिणमन शील हैं इस बातको दिखलाते हैं।

"परिणामात्मिका काचिच्छक्तिश्चाऽपारिणामिकी।
तद्ग्राहकप्रमाणस्याऽभावात्संदृष्ट्यभावतः ॥"

अर्थात् द्रव्यमें जितनी शक्तियां हैं (गुण है) सभी प्रतिक्षण परिणमन करती रहती है। किसी शक्तिको परिणमन शील माना जाय और किसीको नहीं माना जाय या कुछ कालके लिये परिणमन शील माना जाय इसमें कोई प्रमाण नहीं है। और न कोई दृष्टांत भी है।

भावार्थ—वस्तुमें दोय प्रकार की पर्यायें होती हैं। एक व्यंजन पर्याय दूसरी अर्थपर्याय। प्रदेशत्वगुणके विकारको व्यंजन पर्याय कहते है अर्थात् समग्र ही वस्तुके अवस्था भेदको व्यंजन पर्याय कहते है। तथा उस वस्तुमें रहने वाले अनन्त गुणों की पर्यायको अर्थपर्याय कहते है। उक्त दोनों प्रकारकी पर्यायें द्रव्यमें प्रतिसमय हुआ करती हैं। इसका खुलासा—

"तस्माद्वैभाविकी शक्तिः स्वयं स्वाभाविकी भवेत्।
परिणामात्मिका भावैरभावे कृत्स्नकर्मणाम् ॥"

अर्थात् जब उपर्युक्त कथनानुसार सभी शक्तियोंका परिणमन होता है तब वैभाविकी शक्तिका भी प्रतिक्षण परिणमन सिद्ध हो चुका। इसलिये फलितार्थ यह हुआ कि वैभाविकी शक्तिही अवस्था भेदसे स्वभाव विभावमें आया करती हैं। जब कर्मोंका सम्बन्ध रहता है तब तो उस वैभाविकी शक्ति

का विभाव रूप परिणामन होता है। और जब सम्पूर्ण कर्मोंका अभाव हो जाता है अर्थात् आत्मा अपने स्वाभाविक शुद्ध भावोंका अधिकारी हो जाता है उस समय उस वैभाविकी शक्तिका परिणमन स्वभाव रूप होता है। इस प्रकार केवल एक वैभाविकी शक्तिका ही स्वाभाविक और वैभाविक ऐसे दोय अवस्था भेद हैं। सारांश—

"ततः सिद्धं सतोऽवश्यं न्यायाच्छक्तिद्वयं यतः।
सदवस्थाभेदतो द्वैतं न द्वैतं युगपत्तयोः॥"

अर्थात् उपर्युक्त कथनसे यह बात भली भांति सिद्ध हो जाती है कि पदार्थमें अवस्थाके भेदसे दो शक्तियां कही जासकती हैं। यह द्वैत अवस्था भेदसे ही है। किन्तु स्वाभाविक और वैभाविक इन दोय शक्तियोंकी अपेक्षासे युगपत् द्वैत नहीं है।

भावार्थ—वस्तुमें एक काल एकही पर्याय होती है वह चाहै शुद्ध पर्याय हो चाहै अशुद्ध पर्याय हो क्योंकि यह शुद्ध अशुद्ध दोनों द्रव्यकी ही पर्यायें हैं इसलिये वैभाविकी शक्तिकी क्रमसे होने वाली ये दोनों अवस्थायें वस्तुमें रहती हैं। परन्तु कोई यह कहै कि स्वाभाविक और वैभाविक दोनों एक साथ रह जांय यह कभी नहीं हो सकता। क्योंकि यदि एक साथ एक कालमें दोनों रह जांय तो वे दो गुण कहें जांयगे, पर्यायें नहीं कहीं जांयगी। पर्याय तो एक समयमें एक ही होती है। इसलिये

अवस्था भेदसे क्रमसे ही स्वाभाविक और वैभाविक दोनों अवस्था पाई जाती हैं। एक कालमें नहीं।

दोनोंको एक समयमें माननेमें अनेक दोष हैं।

"योगपद्ये महान् दोषस्तद्द्वैतस्य नयादपि।
कार्यकारणयोर्नाशो नाशः स्याद्बन्धमोक्षयोः॥"

अर्थात् यद्यपि वैभाविक शक्ति एक ही है और उसकी दो अवस्था क्रमसे होती हैं यह जैनागमका सिद्धांत है तथापि अवस्था भेदसे जो द्वैत है वह पर्यायकी अपेक्षासे द्वैत है। इन भेदोंको एक साथही कोई स्वीकार करें तो भी ठीक नहीं ऐसा माननेसे अनेक दोष आते हैं।

एक तो कार्य कारण भाव इनमें नहीं रहेगा। क्योंकि वैभाविक अवस्था पूर्वक ही स्वाभाविक अवस्था होती है। जिस प्रकार संसार पूर्वक ही मोक्ष होती है। इसलिये संसार मोक्षप्राप्तिमें कारण है। इस बातको कांजी नहीं मानते, वे तो निमित्त और व्यवहार धर्मके कारण नहीं ऐसा कहते हुये लिखते हैं कि-"जगतमें सब है निमित्त है उससे क्या? क्या उसके आश्रयसे आत्माको ज्ञान होता है? व्यवहारका राग और विकल्प है उससे क्या? क्या उसके द्वारा सम्यक् श्रद्धा ज्ञान चारित्र होते हैं? ऐसा कभी नहीं होता। जीवको संसार है, लेकिन क्या वह संसार है इसलिये आत्माकी मुक्ति होती है? जैसे संसार है परन्तु वह कहीं मोक्षका कारण नहीं है, उसी प्रकार निमित्त और व्यव-

हार हैं परन्तु वे कहीं धर्मके कारण नहीं है "आत्मधर्म अंक १२ वर्ष ६" इसमें कार्य कारण भावको ही उडा दिया है तथा सराग दर्शन ज्ञान चारित्रको धर्म बोलकर स्वीकार नहीं किया है। उनकी दृष्टिमें न कोई कार्य कारण भाव है और न कोई सराग धर्म है। परन्तु यह बात जैनागमसे सर्वथा प्रतिकूल है यह अच्छी तरह ऊपर सिद्ध किया जा चुका है। आचार्य कहते हैं कि वैभाविक अवस्थाके बिना स्वाभाविक अवस्था भी नहीं हो सकती है एक साथ दोनों अवस्था माननेमें यह कार्य कारण भाव नहीं बनेगा दूसरे बन्ध मोक्षकी भी व्यवस्था नहीं बनेगी क्योंकि वैभाविक अवस्था को पहिले माननेसे तो बन्धपूर्वक मोक्षका होना सिद्ध होता है। परन्तु एक साथ दोनों अवस्थाओंकी सत्ता स्वीकार करनेसे बन्ध और मोक्ष एक साथही प्राप्त होंगे। अथवा बन्धकी सत्ता होते, हुये मोक्ष कभी हो नहीं सकती। या कांजीकी मान्यताके अनुसार आत्माको शुद्ध त्रिकाल केवली स्वीकार करनेसे संसार अवस्था ही नहीं बनेगी। इसलिये अशुद्धता पूर्वक शुद्ध अवस्था माननेसे ही सब व्यवस्था बन सकती हैं, अन्यथा नहीं। इसका खुलासा आचार्य फिर भी करते हैं—

"नैकशक्तेर्द्विधाभावो यौगपद्यानुसंगतः।
सति तत्र विभावस्य नित्यत्वं स्यादबाधितम्॥"

अर्थात् एक वैभाविक शक्तिके ही दो भेद हैं। परन्तु एक साथही एक शक्तिके दो भेद नहीं हो सकते। यदि दो भेद बराबर

एक साथही होने लगें तो वैभाविक अवस्था भी नियमसे सदा बनी रहैगी। और वैभाविक अवस्था की नित्यतामें आत्माका मोक्ष प्रयास व्यर्थ हो जायगा। इसलिये एक गुणकी वैभाविक और स्वाभाविक अवस्थायें क्रमसे होती हैं एक कालमें नहीं होती।

कांजीके सादृश्य विचार रखने वालोंकी तरफसे शंका—

"ननु चानादितः सिद्धं वस्तुजातमहेतुकम् ।
तथाजातं परं नाम स्वतः सिद्धं सहेतुकम् ॥
तदवश्यमवश्यं स्यादन्यत्सर्वंससंकरं ।
सर्वशून्यादिदोषश्च दुर्वारो निग्रहास्पदम् ।
ततः सिद्धं यथावस्तु यत्किंचिदचिदात्मकं ॥
तत्सर्वं स्वस्वरूपाद्यैः स्यादनन्यगतिः स्वतः ।
अयमर्थः कोपि कस्यापि देशमात्रं हि नाश्नुते ।
द्रव्यतः क्षेत्रतः कालाद्भावात् सीम्नोऽनतिक्रमात् ॥
व्याप्यव्यापकभावस्य स्यादभावेपि मूर्तिमत् ।
द्रव्यं हेतुर्विभावस्य तत्किं तत्रापि नापरम् ॥
वैभाविकस्य भावस्य हेतुः स्यात्सन्निकर्षतः ।
तत्रोन्योप्यपरो हेतुर्न स्यात्किं वा वतेति चेत् ॥"

अर्थात् सभी पदार्थ अनादि सिद्ध है। पदार्थोंको पैदा करने वाला कोई कारण नहीं है। वे सभी अपने आपही अनादि सिद्ध

हैं उसी प्रकार उनके नामभी अनादि सिद्ध हैं। यद्यपि एक वस्तुका पहिले कुछ नाम और पीछे कुछ नाम भलेही हो जाय परन्तु वाच्य वाचक सम्बन्ध सदा ही रहता है। इसलिये जिस प्रकार वाच्य अनादिसे है उसीप्रकार उनके वाचक नामभी अनादि से हैं। यह पदार्थों और उनके संकेतोंकी अनादिता अवश्य स्वीकार करनी पडती है। यदि ऐसा न माना जाय तो सर्व संकर और शून्यता आदिक अनेक दोष आते हैं। जो कि पदार्थों के नाशके कारण हैं इसलिये यह बात भली भांति सिद्ध है कि जो कोई भी चैतन्य व जड वस्तु हैं सभी अपने अपने स्वरूप को लिये हुये हैं। उनके स्वरूपका परिवर्तन फेरफार कभी नहीं हो सकता। उपर्युक्त कथनसे सारांश यह निकला कि कोई भी पदार्थ किसी दूसरे पदार्थके एक देश मात्रको भी नहीं बिगाड सकता है। सभी पदार्थ द्रव्य क्षेत्र काल भावसे अपने अपने स्वरूपमें ही स्थित हैं। इन चारोंमें से किसी एककी अपेक्षासे भी पदार्थ दूसरे रूपमें आजाय तो वह अपनी सीमासे बाहर हो जायगा। कोई भी पदार्थ क्यों न हो अपनी सीमाका उल्लंघन कभी किसी अंशमें नहीं कर सकता जब ऐसा नियम है तो क्या कारण है कि जीव और पुद्गलमें व्याप्य व्यापक भाव सम्बन्ध न होने पर भी मूर्तिमान् पुद्गल जीवके वैभाविक भावोंमें कारण हो जाता है। यदि विना किसी प्रकारके सम्बन्धके भी पुद्गल कर्म जीवके वैभाविक भावमें कारण हो जाता है तो उसी स्थलपर रहनेवाला

धर्मादिक अपर द्रव्य भी जीवके विकारका कारण क्यों नहीं माना जाय इसके उत्तरमें यदि यह कहा जाय कि सांन्नि-कर्ष सम्बन्ध विशेष होनेसे पुद्गल द्रव्य ही जीवके विभावका कारण हो जाता है, धर्मादिक नहीं होते तो भी यह दोष आता है कि उसी स्थान पर रहनेवाला सन्निकर्षसम्बन्धविशिष्ट विस्रसोपचय रूप पुद्गल पिण्ड जीवके विकारका कारण क्यों नहीं हो जाता है। समाधान—

"सत्यं बद्धमबद्धं स्याच्चिद्द्रव्यं चाथ मूर्तिमत् ।
स्वीयसम्बन्धिभिर्बद्धमबद्धं परबन्धिभिः ॥
बद्धाबद्धत्वयोरस्ति विशेषः पारमार्थिकः ।
तयोर्जात्यन्तरत्वेपि हेतुमद्धेतुशक्तितः ॥

अर्थात् जो शंका उठाई गई है वह देखनेमें ठीक है परन्तु बात यह है कि सभी जीव पुद्गल बद्ध तथा अबद्ध नहीं होते किन्तु कोई बद्ध होते हैं और कोई अबद्ध होते हैं। संसारी जीव कर्मोंसे बन्धे हुये हैं। मुक्त जीव बन्धे हुये नहीं हैं। इसीप्रकार पुद्गल द्रव्यमें भी ज्ञानावरणीय आदि कर्म परिणत पुद्गल द्रव्यही जीवसे बन्धे हुये है। अन्य पांच प्रकारकी वर्गणाओंको छोडकर अन्य पुद्गल नहीं। और भी जो बन्धयोग्य जीव व पुद्गल हैं उनमेंभी सभी जीव संसारकी समस्त कर्म वर्गणाओं से एक साथ नहीं बन्ध जाते और न समस्त कर्म वर्गणायें ही प्रत्येक जीवके साथ प्रतिसमय बन्ध जाती है। किन्तु जिस

समय जिस जीवके जैसा भाव जैसी कषाय होती है उसीके योग्य कर्मोंसे जीव वन्ध जाता है। अन्य प्रकारकी कषायसे वन्धने योग्य कर्मोंसे नहीं वन्धता। इसलिये कोई पुद्गल द्रव्य जीवमें विकार करता है, कोई नहीं करता।

ऐसा भी नहीं है कि सांख्यमतकी तरह पुरुष जीवात्माको सर्वथा शुद्ध मान लिया जाय और वन्धको केवल प्रकृति कर्मका ही धर्म मान लिया जाय तथा वद्ध जीव और मुक्त जीवमें कुछ अंतर भी न माना जाय। और ऐसाभी नहीं है कि किसी द्रव्यमें दूसरे द्रव्यके निमित्तसे विकार सर्वथा हो ही नहीं सकता। ऐसा माननेसे पदार्थोंका निमित्त नैमित्तिक सम्वन्ध भी उड जाता है। और निमित्त नैमित्तिक सम्वन्ध के अभावमें किसी कार्यकी सिद्धि नहीं हो सकती है। इसलिये वद्ध जीव और मुक्त जीवमें वास्तविक भेद है। तथा जीव और पुद्गलमें विजातीयपना होने परभी परस्पर इस प्रकारका निमित्त नैमित्तक भाव है जिससे कि संसारी जीवोंकी कषायका निमित्त पाकर पुद्गल कर्म जीव के साथ वन्धको प्राप्त हो जाता है और उन वन्धे हुये कर्मोंके परिपाककालमें जीवोंमें कषायादिरूप विकार उत्पन्न हो जाता है। यही वन्धका कारण है।

तद्गुणाकारसंक्रान्तिर्भावो वैभाविकश्चितः।
तन्निमित्तं च तत्कर्म तथा सामर्थ्यकारणम्॥

अर्थात् जीवके गुणोंका अपने स्वरूपसे वदल कर दूसरे रूपमें

आजाना इसीका नाम वैभाविक नाम है यह जीवका भावकर्म के बन्ध करने में कारण है। और वैभाविक भाव के निमित्त से होनेवाला वही कर्म उसी वैभाविक भावके पैदा करने की सामर्थ्य का कारण है। भावार्थ—कर्मों के निमित्त से होनेवाली रागद्वेष रूप आत्मा की अवस्था का नाम ही वैभाविक है। वही अशुद्ध भाव पुद्गल को कर्म रूप बनाने में कारण है। और वह कर्मभी उस वैभाविक भाव की उत्पत्तिका कारण हैं इसलिए इन दोनों में परस्पर कारणता है।

अतः निमित्त कुछ नही करता ऐसा माननेवालोंको इस उपरोक्त कथनका अवलोकन करना चहिये जिससे उनका भ्रम दूर होकर यथार्थ वस्तुस्वरूप क्या है यह वात समझमें आजाय।

"अर्थतस्त्रिविधो बन्धो वाच्यं तल्लक्षणं त्रयम् ।
प्रत्येकं तद्द्वयं यावत्तृतीयस्तूच्यतेऽधुना ॥"

अर्थात् वास्तवमें बन्ध तीन प्रकारका होता है इसलिये उनतीनों के लक्षण भी जुदे जुदे है। तीनों प्रकारोंके बन्धोंमें दोवन्धोंका स्वरूप तो एक एक स्वतंत्र है। परन्तु तीसरे बन्धका स्वरूप जो कि दोनोंके मिलनेसे होता है। इसीका नाम उभयवन्ध है और यही वन्ध परस्परमें एक दूसरेकी अपेक्षाको लिये हुये है जो जीव और कर्म दोनोंके सम्बन्ध से होता है। जीव तो कर्मोंसे वन्धा हुआ है और कर्म जीवसे बन्धे हुये हैं। यह उभय बन्धका स्वरूप है।

"जीवकर्मोभयोर्बन्धः स्यान्मिथः साभिलाषुकः ।
जीवः कर्मनिबद्धो हि जीवबद्धं हि कर्म तत्"

सारांश यह है कि भावबन्ध और द्रव्यबन्ध तो जुदे जुदे हैं भावबन्ध तो जीवात्मा का वैभाविक भाव है और द्रव्यबन्ध पुद्गलका कर्म रूप होना है। अर्थात् भावबन्ध में आत्माकी मुख्यता है, द्रव्यबन्ध में पुद्गल की मुख्यता है किन्तु उभय-बन्ध आत्मा और पुद्गल इन दोनों द्रव्यों के सम्बन्ध से होता है इसलिये दोनों द्रव्य परतंत्र हो जाते हैं अतः जो आत्मा को सदा स्वतंत्र मानते हैं वह जैनागम से अनभिज्ञ हैं। क्योंकि यदि संसारी आत्मा को सदा स्वतंत्र मान लिया जाय तो फिर उनको स्वतंत्र बनाने के लिये उपाय करना व्यर्थ ठहरेगा इसलिये जो बद्ध आत्मा को सदा शुद्ध स्वतंत्र मानता है वह सांख्यमति है, जैन नहीं। जीव और पुद्गल में वैभाविकी शक्ति है इसलिये इन पर निमित्त का असर पडता है इसी कारण इनके साथ परस्पर में निमित्त नैमित्तिक सम्बन्ध है। किन्तु अन्य चार द्रव्यों में वैभाविकी शक्ति नहीं है उनमें केवल स्वाभाविकी शक्ति है इसलिये उनको कोई भी निमित्त अपने स्वभाव से च्युत नहीं कर सकता है। स्वाभाविकी शक्ति में विभावरूप परिणमन करने की शक्ति नहीं है। यह शक्ति वैभाविक शक्ति में ही स्वभाव विभावरूप परिणमन करने की है इस बातको ऊपर में अच्छी तरह सिद्ध किया जा चुका है। अतः इस वैभाविक शक्ति के

कारण जीव और पुद्गल का परस्पर निमित्त मिलने पर इनका विभावरूप परिणमन होता है इसलिये जो यह कहना कि निमित्त कुछ नहीं कर सकता अर्थात् "तेरी तैयारी के विना कोई दूसरा निमित्त भी नहीं हो सकता है।" यह बात सर्वथा मिथ्या है क्योंकि तेरी तैयारी भी तो विना निमित्त के नहीं हो सकती है। अतः निमित्त का असर आत्मा पर जबरदस्त पडता है। कर्मोंके निमित्त से ही यह आत्मा अनादि कालसे तीन लोक का ठाकुर होता हुआ भी कर्मोंका चाकर होकर चारों गतियों में भटकता फिरता है। इस विपय में एक नीतिकारने अच्छा कहा है।

"नमस्यामो देवान्नतु हतविधेस्तेऽपि वशगाः।
विधिर्वन्द्यः सोऽपि प्रतिनियतकर्मैकफलदः॥
फलं कर्मायत्तं किममरैः किं च विधिना।
नमस्तत्कर्मभ्यो विधिरपि न येभ्यः प्रभवति।
ब्रह्मा येन कुलालवन्नियमितो ब्रह्माण्डभाण्डोदरे
विष्णुर्येन दशावतारगहने क्षिप्तो महासंकटे
रुद्रो येन कपालपाणिपुटके भिक्षाटनं कारितः
सूर्यो भ्राम्यति नित्यमेव गगने तस्मै नमः कर्मणे"

अर्थात् नीतिकार कहता है कि हम देवताओं को नमस्कार करते हैं परन्तु देवताओं को भी विधाता के वश में देखते हैं और विधाता भी हमारे पूर्व संचित कर्मों के अनुसार फल देता

है अतः फल और विधाता दोनों कर्म के आधीन हैं तो देवता और विधाता से क्या काम है इसलिये कर्म को ही नमस्कार है। क्योंकि विधाता का भी सामर्थ्य जिसपर नहीं चलता। जिसकर्म ने ब्रह्मा को कुम्हार के समान निरंतर ब्रह्मांडरचना के हेतु बनाया। और विष्णु को बारंबार अवतार ग्रहण करने के संकट में डाला और रुद्र को कपाल हाथ में लेकर भिक्षा मांगने के कष्ट में रक्खा और सूर्य को आकाश में नित्य भ्रमण चक्र में डाला अतः कर्मको ही नमस्कार है। इसके कहने का तात्पर्य यह है कि कर्मों के सामने आत्मा की कुछ नहीं चलती बडे बडे पुरुषों को भी इसके आगे हार माननी पडी। आदिनाथ भगवान को भी अंतरायकर्म के निमित्त से छह महिने तक आहार नहीं मिला। अंजना जैसी सती को भी बाईस वर्ष तक पतिवियोग का दुख कर्मके निमित्त से ही देखना पडा इत्यादिक अनेक दृष्टांत मोजूद है। अतः आत्मापर निमित्तका अच्छा या बुरा असर होता है इसबात को न मानना और अपनी तैयारी अपने आप विना निमित्त के हो जाती है ऐसा मानना जैनागम से प्रतिकूल है।

जीव और पुद्गल का गमनागमन धर्मास्तिकाय के सहारे के निमित्त विना नहीं होता। यद्यपि जीव और पुद्गल का गमनागमन अपनी शक्ति के बल पर होता है तथापि धर्मास्तिकाय के सहारे विना नहीं हो सकता। जिस प्रकार रेलका इंजन गमन अपनी शक्ति के बल पर स्वयं करता है तोभी विना पटरी

के नहीं कर सकता है। उसी प्रकार जीव और पुद्गल गमनागमन स्वयं करता है तो भी धर्मास्तिकाय के सहारे विना नहीं कर सकता है यदि ऐसा नहीं माना जायगा तो मुक्त जीव का ठहरना लोकके अन्त में नहीं बनेगा उसका उर्द्ध गमन होता ही जायगा परन्तु लोकाकाश के बाहर मुक्त जीवका गमन नहीं होता क्योंकि वहांपर धर्मास्तिकायका अभाव है। कहा भी है "धर्मास्तिकायाभावात्" अतः हर एक कार्य में निमित्त प्रधान है बिना निमित के कोई भी कार्य की सिद्धि नहीं होती। जो विना निमित्त के कार्य की सिद्धिचाहते हैं सोमिथ्या है। इसलिये कांजी का जो यह कहना है कि "निमित्त के आश्रय से लाभ होता है ऐसी बात कहां से लाया" अर्थात् निमित्तसे कुछ लाभ नुकशान नहीं होता, यह बात जैनागम से सर्वथा मिथ्या है। एकांतवाद है। इसलिये कांजी को दिगम्बरी जैन समझना भारी भूल है। यदि वास्तव में उनको दिगम्बर जैन धर्म से रुचि है और इस धर्म को सर्वोत्कृष्ट समझने है। अर्थात् जीवों का कल्यान होगा तो इसी धर्म द्वारा होगा यदि उनकी ऐसी श्रद्धा है और अपना कल्यान करना चाहते है तो सब से पहिले उनको आचार्य वीर-सागर जी के पास जाकर उनके चरणों की शरण ग्रहण करनी चाहिये और उनसे ब्रह्मचर्य व्रत की या क्षुल्लकपने की या मुनिपने की दीक्षा ग्रहन करनी चाहिये। और अपनी महंतता और मान्यता एक तरफ ताक में रखकर उनसे दिगम्बर धर्म के सिद्धांत को

समझना चाहिये। और दिगम्बर धर्म के कायदे (कांनून) के अनुसार दिगम्बर जैन धर्म धारण करलेना चाहिये। विधर्मीयोंको जैन धर्म धारण करने की विधि ऊपर बतलाई जा चुकी है। देव गुरु शास्त्र अग्नि और पंचों की साक्षि पूर्वक विधर्मीयों को जैनधर्म स्वीकार करना चाहिये। इसके बाद पहिले श्रावकाचार का अध्ययन करना चाहिये। समयसारादिकका नही यह तो मुनियों के अध्ययन करने का ग्रंथ है या श्रावकाचार के ग्रंथों का अभ्यास हो जाने के बाद अभ्यास करने का है। इसलिये परिले श्रावकाचार के ग्रंथों का ही अध्ययन करना चाहिये। ऐसा किये बिना स्वछंद प्रवृत्ति का काला मुंह नहीं होता और आगमानुकूल प्रवृत्ति करने की भावना जाग्रत नहीं होती अतः जो गुरु के बताये हुये मार्ग में चलने वाला होगा उसका बाह्य भेष पाखंड रूप कभी नहीं होगा, उसका बाह्यभेष दिगम्बर जैन धर्म के अनुकूल ही होगा जिससे वह दिगम्बरीकहलाने का हकदार बनजाता है। और देखने वालों को भी यह दिगम्बरी है ऐसा उनके ध्यान में जच जाता है अतः इसके विपरीत आचरण करने वाला कभी दिगम्बर जैन कहलाने का हकदार नहीं हो सकता है।

जो विधर्मी है और वह अपने आप जैन धर्म में प्रवृत्ति करता है तो वह स्वयं बुद्ध न होने से दिगम्बर जैन धर्म के सिद्धांतों को नहीं समझ सकता। इसी कारण वह यद्वातद्वा प्रवृत्ति करता है तो इसमें कोई आश्चर्य की बात नहीं हैं। जो

दिगम्बर जैन होकर भी कुगुरुओं के निमित्त से दिगम्बर जैन धर्म के प्रतिकूल आचरण करने लगजाता है। अर्थात् वह भी जाति पांतियों का लोपकर हरिजनों को मंदिरों में प्रवेश कराने को चाहता है, तो जो शुरू से ही विधर्मी है वह भला किस प्रकार विना गुरु के अपने आप दिगम्बर जैन सिद्धान्त के रहस्य को समझ सकता है, कदापि नहीं। यही कारण है कि कांजीस्वामी अपनी पूर्व मान्यता के अनुसार दिगम्बर जैन धर्म को उसी सांचे में ढालना चाहते हैं। दर असल में बात यह है कि द्रव्यानुयोग की जो कथनी है वह द्रव्यदृष्टि को लिये हुये है इस कारण उस कथन को मानने में किसी धर्मावलंबी को एतराज नहीं हो सकता क्यों कि द्रव्य दृष्टि से द्रव्य को सब धर्मावलंवी शुद्ध मानते ही हैं इसलिये वह सबके अनुकूल पड जाता है। इसी कारण कुन्दकुन्द स्वामी को स्वेताम्बर लोग भी मानते है।

इसका कारण यह है कि कुन्दकुन्दस्वामीके प्रतिपादित समयसारादि निश्चयात्मक ग्रंथ उनके भी अनुकूल पडते हैं। तो भी उनके माननेमें कारण विपर्यय भेदविपर्यय भेदाभेदविपर्ययादि अनेक दूषण है। समयसारादि ग्रंथोंमें जो व्यवहारापेक्षा कथनको अभूतार्थ असत्यार्थ वतलाया गया है, उसको वे सर्वथा असत्यार्थ समझकर केवल निश्चयको ही भूतार्थ सत्यार्थ मान लेते है। इसीलिये वे भी दान पूजा तीर्थयात्रादि व्यवहार धर्मका निषेध करते ही है किन्तु यह एकान्तवाद है। इस एकान्त वादका समयसारमें भी निषेध किया है।

"कोई मूढ विकल एकान्त पच्छ गहैं कहैं, आत्मा अकरता पूर्ण परम है। तिनको फेर जु कोउ कहै जीव कर्ता हैं फेरि कहै कर्मको कर्ता कर्म है। ऐसैं मिथ्यामगन मिथ्याती ब्रह्मघाती जीव जिनके हिये अनादि मोहको भ्रम है। तिनके मिथ्यात्व दूर करने कूं कहैं गुरु स्याद्वाद परमाण आत्मधर्म हैं" "कोई कहै जीव चणभंगुर कोई कहै कर्म करतार। कोई कर्मरहित नित जंपहि नय अनन्त नाना परकार ॥ जे एकान्त गहैं ते मूरख, पंडित अनेकान्त पखधार। जैसे भिन्न भिन्न मुक्तागण गुणसों गहत कहावै हार ॥

इस कथनानुसार एकान्तको ग्रहण करने वाला मिथ्यात्वी और आत्मघाती महापातकी है।

जैनागमका स्याद्वादकिला दुर्गम है दुर्भेद है इसलिये उसमें निवास करनेवाला कभी खंडित नहीं होता किन्तु एकान्त-वादी उसके सामने कभी नहीं टिक सकता इसलिये एकान्त वाद मिथ्या है। वस्तुकी सिद्धि स्याद्वादसे ही होती है। वस्तुमें उभय धर्म रहता है—सामान्य और विशेष। इन दोनों धर्मोंकी सिद्धि दोनों नयोंसे होती है केवल निश्चयनयसे नहीं होती क्योंकि निश्चयनय केवल वस्तुके सामान्य धर्मको ग्रहण करता है विशेष को नहीं इसलिये वस्तुका विशेष धर्म निश्चयनयमें बाकी रह जाता है। विशेषका ग्रहण व्यवहार नय ही करता है इसलिये इस नयद्वारा वस्तु अनन्त धर्मात्मक सिद्ध हो जाती है।

अर्थात् व्यवहारनयका फल पदार्थोंमें आस्तिक बुद्धिका

होना है। व्यवहारनयसे वस्तु अनन्तगुणोंका पुंज है यह बात जानी जाती है।

"फलमास्तिक्यमतिः स्यादनन्तधर्मैकधर्मिणस्तस्य।
गुणसद्भावे नियमाद् द्रव्यास्तित्वस्य सुप्रतीतत्वात्॥

क्योंकि गुणोंकी विवक्षामें गुणोंका सद्भाव सिद्ध होता है और गुणोंके सदभावमें गुणी द्रव्यका सद्भाव स्वयं सिद्ध अनुभवमें आता है। सारांश यह है कि व्यवहार नयके विना पदार्थ विज्ञान होता ही नहीं। दृष्टांतके लिये जीव द्रव्यको ही लेलीजिये। व्यवहार नयसे जीवका कभी ज्ञानगुण विवक्षित किया जाता है, कभी दर्शनगुण, कभी चारित्रगुण, कभी सुख, कभी वीर्य, कभी सम्यक्त्व, कभी अस्तित्व, कभी वस्तुत्व, कभी द्रव्यत्व, इत्यादि सब गुणोंको क्रमशः विवक्षित करनेसे यह बात ध्यानमें आजाती है कि जीवद्रव्य अनन्तगुणोंका पुंज है साथ ही इस बातका भी बोध व्यवहारनयसे हो जाता है कि ज्ञान दर्शन सुख चारित्र आदि जीवके विशेष गुण है। क्योंकि यह गुण जीवके सिवाय दूसरे द्रव्यमें नहीं पाये जाते। और अस्तित्व, वस्तुत्व, द्रव्यत्व आदि सामान्य गुण है। क्योंकि ये गुण जीव द्रव्यके सिवाय अन्य द्रव्योंमें भी पाये जाते हैं। तथा रूप रस गंध स्पर्श ये पुद्गलके सिवाय अन्य किसी द्रव्यमें नहीं पाये जाते हैं।

इसलिये ये पुद्गलके विशेष गुण हैं। इस प्रकार वस्तुमें अनन्त गुणोंके परिज्ञानके साथही उसके सामान्य विशेष गुणोंका

परिज्ञानभी इस व्यवहार नयसे होजाता है। गुण गुणी और सामान्य विशेष गुणोंका बोध होने परही पदार्थमें आस्तिक्य भाव होता है इसलिये विना व्यवहार नयके काम नहीं चलता क्योंकि पदार्थका स्वरूप विना समझाये समझमें आ नहीं सकता जो कुछ समझाया जायगा वह अंश रूपसे ही कहा जायगा। इसीसे पदार्थमें भेद बुद्धि होती हैं अभिन्न अखंड पदार्थमें भेद बुद्धिको उपचरित कहा गया है किन्तु व्यवहारनय निश्चयनयकी सापेक्ष होनेसे यथार्थ है, निरपेक्ष मिथ्या है। इसके अतिरिक्त किसी विषयमें विवाद होने पर अथवा किसी विषयमें संदेह होने पर अथवा वस्तुके विचार करनेमें व्यवहारनयका अवलंबन बलपूर्वक अवश्य लेना पडता है। और जो ज्ञान निश्चयनय और व्यवहार नय दोनोंका अवलंबन करता है वही ज्ञान प्रमाण ज्ञान समझा जाता है अतः विना व्यवहारनयका अवलम्बन किये केवल निश्चय नयसे ज्ञानमें प्रमाणता ही नहीं आ सकती है क्योंकि विना व्यवहार नयका अवलम्बन किये पदार्थका विचारही नहीं हो सकता है।

"नैवं यतो बलादिह विप्रतिपत्तौ च संशयापत्तौ।
वस्तुविचारे यदि वा प्रमाणमुभयावलम्बितं ज्ञानम्"

इसलिये व्यवहार नयको सर्वथा मिथ्या मानकर जो छोड देता है और केवल निश्चयनयको ही सत्यार्थ मानकर ग्रहण करता है कभी सम्यक्ज्ञानी नहीं हो सकता है।

जो एकान्तवादी है निमित्त और व्यवहारसे लाभ होना नही मानता है, और कहता है कि जिस समय जिसका जैसा होना है उस समय उसका अपने आप वैसा परिणमन हो जाता है, निमित्त मिलानेकी इसमें कोई जरूरत नहीं, क्योंकि वस्तु स्वभाव जैसा है वैसा उसमें परिणमन होता ही रहता है, निमित्त उसमें कुछ हेर फेर नहीं कर सकता है, ऐसा मानने वाला नियति वाद और स्वभाव वादी है। गोमटसारजीमें इसको पाखंड बतलाया है।

"जत्तु जदा जेण जहा जस्स य णियमेण होदि तत्तु तदा तेण तहा तस्स हवे वादो णियदिवादो दु" ॥८८२॥

अर्थात् जो जिस काल जिहि करि जैसे जिसके नियम करि है सो तिसकाल तीहिकरि तैसे तिसहीके होय है, ऐसा नियम करि सबको मानना सो नियतिवाद पाखंड है।

"को करइ कंटयाणं तिक्खत्तं मियविहंगमादीणं।
विविहत्तंतुसहाओ इदि सव्वंपि य सहाओत्ति॥" ८८३

अर्थात् कांटाने आदि देकर जे तीच्णण वस्तु हैं तिनके कोन-तीक्षणपणा करें हैं? बहुरि मृग अर विहंगी पत्ती इत्यादिकनिके नानाप्रकारपना पाइये है सो कोन करे हैं? ऐसा प्रश्न होते ऐसा ही उत्तर देहैं कि उनका ऐसा स्वभावही है एसे सबको कारण विना स्वभावही करि मानना सो स्वभाववाद पाखंड है। उप-रोक्त प्रमाणोंसे कांजीका सिद्धांत दि. जैन सिद्धांतसे प्रतिकूल

है। उनको न दि. जैन धर्मसे रुचि है और न वे दिगम्बर जैन धर्मको धारण ही करना चाहते हैं। इसका स्पष्ट उदाहरण है कि वे किसी मुनि या विद्वानसे दि. जैन सिद्धांतको समझनेकी जरूरत नहीं समझते इसीलिये वे किसीके पास जाते भी नहीं और जो विद्वान उनसे सिद्धांतके विषयमें चर्चा करना चहाता है उससे वे बात भी नहीं करते अतः वे किसीको गुरु बनाना और उनसे सिद्धांत समझना पसन्द ही नहीं करते। वे तो अपने आप श्री गुरु घंटाल मठाधीश सबके ऊपर स्वामी बन बैठे। और जनबल, प्रचारबल, वचनबलसे, जैनागमका गला घोंटकर अपना स्वतंत्र मतका प्रचार करना चहाते हैं इस हालतमें उनको जो दिगम्बरी जैन समझकर उनसे जैनधर्मका मर्म समझनेके लिये जाते हैं वे अपने गांठका खोकर आते हैं। अर्थात् एकान्तवादी मिथ्यात्वी बनकर आते हैं। और व्यवहार धर्मको (दानपूजादि) छोडकर स्वतंत्र नियतिवादका पोषण करने लग जाते है एवं स्वयं इसी ढांचेमें ढल जाते हैं। यदि इस बातमें झूठ हो तो कांजी स्वामी अपनी मान्यताके अनुसार वे अपने को दि. जैन सिद्धकर दें तो हम उनको दि. जैन माननेके लिये तैयार हैं, अन्यथा या तो वे अपनेको दिगम्बरी बताना छोडदें या वे अपनी मान्यता छोडकर दि. जैनधर्मानुकूल अपनी मान्यताकर उसके अनुसार अपना आचरण करलें। अब ऐसा नहीं होगा कि आप अपना श्वेताम्बर जामा पहिने हुए भी अपनेको दिगम्बरी सिद्ध करते रहें और भीतर ही भीतर दि. जैन धर्मका

गला घोंटते रहें अर्थात् दि. जैन सिद्धांतका लोप करते रहें। यह बात अब सहन नहीं हो सकती है।

यदि कांजीको अपनी मान्यता पर पूर्ण विश्वास है कि हमारी मान्यता यथार्थ है तो वे शास्त्रार्थ करलें। फिर सबको मालूम हो जावेगा कि कांजी स्वामीकी मान्यता अयथार्थ है या सत्यार्थ है ?

(१) जो व्यक्ति विधर्मी होकर दिगम्बर जैन धर्म को धारण करता है तो क्या वह व्यक्ति दिगम्बर जैन धर्म धारण करने के पश्चात् भी अपने पूर्व भेष को धारण किये हुये रह सकता है। और क्या वह उस भेष में रहकर अपने को दिगम्बर जैन कहलाने का हकदार हो सकता है ? यदि हो सकता है तो आगम बतलावें। यदि नहीं हो सकता है तो कांजी दिगम्बरी किस प्रकार हो सकते हैं ? क्योंकि उनका भेष श्वेताम्बर यतियों का सा है।

(२) दिगम्बर धर्म के नियमानुसार जिसके रंचमात्र भी व्रत नहीं है तो क्या वह व्यक्ति अपने को पूज्य समझकर दूसरों से नमस्कारादि करा सकता है ? अथवा क्या अपने को पूज्य गुरुदेव स्वामी कहला सकता है ?

(३) दिगम्बर जैन धर्म के नियमानुसार क्या कोई अन्य भेष में रहकर भी व्यवहार सम्यक् दृष्टि कहलाने के योग्य हो सकता है ?

(४) छठे गुण स्थान का भाव ही मुनि की क्रिया कराता है

अर्थात् पहिले छठे गुणस्थान का भाव गृहस्थ अवस्था में हो जाता है उसके बाद मुनि व्रत की क्रिया होती है। ऐसा माननेवाला क्या दिगम्बर जैन सिद्धांत का अनुयायी हो सकता है?

(५) निमित्त और व्यवहार से लाभ नहीं होता किन्तु इनसे लाभ होना माननेवाला मिथ्यादृष्टि है ऐसा कहनेवाला क्या नास्तिक नही है?

(६) कुदेवादिककी श्रद्धा करना तीव्र मिथ्यात्व है और सुदेवादिक की श्रद्धा करना मंद मिथ्यात्व है ऐसा माननेवाला क्या सम्यग्दृष्टि होसकता है?

(७) दान पूजा करनेमें तीर्थयात्रा करनेमें जो धर्म होना मानते हैं वह मिथ्यादृष्टि हैं। ऐसा कहनेवाला क्या जिनधर्मी होसकता है?

(८) पंच महाव्रत धारण करनेसे चारित्र प्रगट होता है ऐसा माननेवाला मिथ्यादृष्टि है। ऐसा कहनेवाला क्या मोक्षमार्गी होसकता है?

(९) पंच महाव्रतका शुभ विकल्प भी पुन्याश्रवका कारण है। ऐसा कहनेवाला क्या "तपसा निर्जरा च" इस जैनसिद्धांतका घातक नहीं है? क्योंकि "इच्छानिरोधस्तपः" ऐसा तपका आचार्योंने लक्षण किया है तो क्या मुनिव्रत धारण करनेमें इच्छाका निरोध

नहीं होता है ? और क्या मुनिव्रतकी तप संज्ञा नहीं है ? जो इसको केवल पुन्याश्रवका ही कारण कहागया है ?

(१०) "पंचमहाव्रत के विकल्प करनेकी मुनिकी भावना नहीं है तथापि यह वृत्ति उठती है तो उसे निश्चय प्रत्याख्यानमें दोषरूप जानकर छोड देते हैं। उसका प्रतिक्रमण करके पुनः निर्विकल्परूपसे स्वरूपमें स्थिर होते है। ऐसी संत मुनियोंकी दशा होती है" ऐसा जो कहते हैं तो क्या ऐसा कहना जैनागमके अनुकूल है ? क्या पंच महाव्रत धारण किये विना ही मुनि होते हैं ? जो ऐसा प्रतिपादन किया जारहा है कि "पंच महाव्रतको विकल्प करनेकी अर्थात् पंच महाव्रत धारणकरनेके विकल्प करनेकी मुनिकी भावना नहीं होती पर वृत्ति उठती है इसलिये इस वृत्तिका प्रतिक्रमणकरके पुनः अपने स्वरूपमें स्थिर होते है।" इस कथनसे स्पष्ट सिद्ध होता है कि पंच महाव्रत के धारण किये विना ही मुनि होते है क्योंकि पंचमहाव्रतका विकल्प निश्चय प्रत्याख्यानमें अर्थात् मुनिपने में दोष उत्पन्न करता है इसलिये उनको प्रतिक्रमण करना पडता है। संभव है इसीलिये कांजी पंच महाव्रतधारी मुनियोंको मुनि नहीं समझते हैं। तो क्या मुनि निश्चय प्रत्याख्यान मुनि होते ही करते हैं या पीछे करते हैं या कब करते है ? तथा निश्चयप्रत्याख्यानका स्वरूप क्या है ? और उसमें पंचमहाव्रत धारणकरनेका विकल्प दोषरूप क्यों ? और इसकी वृत्ति क्यों उठती है ? अपनी भावनाके विरुद्ध हमेशा दोष लगाना क्या संत मुनियोंका काम है ?

(११) "संत तो स्वरूपमें स्थिर होनेके ही कामी थे उनके निश्चय प्रत्याख्यानकी ही प्रतिज्ञा थी तथापि स्वरूपमें पूर्णतया स्थिर नहीं रहा जासका इसलिये यह आहार नीहारादिककी वृत्ति उठी उसको संत दोपरूप समझते हैं "ऐसा जो कहा गया है तो क्या संत लोग निश्चयप्रत्याख्यानमें आहार निहार विहार शयनाशनउपदेशादिक इन सबके न करनेकी प्रतिज्ञा कर चुके थे? यदि कर चुके थे तो फिर इनमें प्रवृत्ति कर की हुई प्रतिज्ञा को भंग किसलिये किया। क्या संत लोगोंको प्रतिज्ञा करते समय इसबातका ज्ञान नहीं रहा कि इस प्रतिज्ञाका निर्वाह हमसे नहीं होगा? यदि ज्ञान था तो ऐसी प्रतिज्ञा ही क्यों की जिसका पालन न होसके? और प्रतिज्ञा भंग करनेवाला ऐसा संत ही कैसा? क्या यहां पर संत शब्दका प्रयोग मुनियोंके प्रति किया गया है या संत कोई और ही व्यक्ति है? यदि मुनिराजोंके प्रति संतशब्दका प्रयोग किया है तो मुनिराजों के तो अट्ठाईस मूलगुणोंमें एक दफे दिनमें खडे रहकर आहार लेना मूलगुण बताया है यह दोपरूप कैसा? मूल नाम जडका है जैसे जडके विना वृक्ष नहीं उसीप्रकार मूलगुणके विना मुनि नहीं यदि आहार लेना मुनिपदमें दोपरूप होता तो यह आहारलेना मुनिराजोंके मूलगुण नहीं होता यदि आहार लेना मुनिपदमें पापरूप होता तो तीर्थंकरादि महापुरुप महाशक्तिकेधारी वेले वेले पारणा क्यों करते? वाहुवलीके समान सवही निराहार रहते परन्तु वे संतलोग स्वरूपमें स्थिर होनेके लिये ही आहारादिकमें प्रवृत्ति

करते थे जबतक स्वरूपमें स्थिर न होसकते हैं तबतक उनको स्वरूपमें स्थिर होने के लियेही आहार करनापडता है क्योंकि इसके किये विना स्वरूपकी प्राप्ति नहीं होसकती इसवातका खुलासा ऊपरमें किया जा चुका है अतः निराहार रहकर बाहुवलिके सिवाय आजतक कोई भी दूसरे महापुरुष स्वरूपकी प्राप्ति नहीं कर पाये हैं इसका कारण यह है कि क्षुधा महाभयंकर ज्वाला है इसको शांत किये विना स्वरूपमें स्थित होनेकी और कोई गति नहीं, इस विषयमें एक कवी ने अच्छा कहा है—

"आद्यारूपविनाशिनी कृशकरी कामोत्सवविध्वंसिनी ।
पुत्रभ्रातकलित्रवेदनकरी धर्मार्थनिर्नाशिनी ॥
चक्षुर्मन्दकरी तपःश्रुतहरी लज्जाधृतिच्छेदनी ।
श्यामा पंडित सर्वभूतदहनी प्राणापहारी क्षुधा ॥"

अतः संत लोग स्वरूपमें स्थिर होनेके लिये ही पंच महाव्रत धारण करते हैं और आहारादिकमें प्रवृत्ति करते हैं, इसलिये आहारादिक करनेका प्रत्याख्यान कोईभी संत लोग नहीं करते हैं यदि वे कारणवशात् प्रत्याख्यान करते हैं तो फिर उसका भंग भी वे कभी नहीं करते अतः आहारादिक लेना निश्चय प्रत्याख्यानका भंग बताकर आहार लेने वाले मुनिराजोंको (संतोंको) दोषी ठहराकर उनका निरादर करना नहीं तो और क्या है ?

(१२) जो यह कहा गया कि "वास्तवमें तो संसारका

त्याग करते समय मुनिने जो निश्चय प्रत्याख्यानकी प्रतिज्ञाकी थी उसमें निर्दोष आहारकी वृत्तिका भी त्याग किया था फिर आहारादिककी शुभ वृत्ति उठनेसे मुनि विचार करते हैं कि अरे मेरे निश्चय प्रत्याख्यानमें भंग हुआ" क्या यह पागलपनका प्रलाप नहीं है? क्या मुनि होते ही निर्दोष आहार करनेका मुनि त्याग कर देते हैं? कभी नहीं फिर ऐसा कहना कि मुनि होते ही निश्चय प्रत्याख्यान में आहार का त्याग कर देते है और शुभ वृत्ति उठनेसे प्रत्याख्यानका भंगकर आहारका ग्रहण करना, वाद में विचार करना कि अरे मेंने यह वहुत वुरा किया जो आहार ग्रहण किया, फिर इसका प्रायश्चित्त करना, प्रायश्चित्तभी एक दफे दोष लगने पर होता है, वार वार जान वूझकर रोज प्रत्याख्यान करना और वार वार रोज उसका भंग करना, क्या यह संत पुरुषोंका काम है? क्या वार वार प्रतिज्ञा भंग करभी संत मुनि कहलाते है? जो जान वूझकर वार वार प्रतिज्ञा भंग करता है वह संत नहीं है किन्तु महादुष्ट है असंत है। ऐसे दोषोंका निराकरण प्रतिक्रमण करनेसे नहीं होता क्योंकि यह महादोष है, व्रत भंगका दोष आचार्योंने ऐसा वतलाया है।

"गुरून् प्रतिभुवः कृत्वा भवत्येकं धृतं व्रतम्।
सहस्रकूटजैनेन्द्रसद्मभंगाघभागलम् ॥"

अर्थात् व्रत भंग करनेका पाप एकहजार जिन मंदिरोंके भंग करनेके समान महापाप है। इसलिये ऐसा महापाप क्या प्रति-

क्रमण करनेसे दूर हो सकता है जो प्रतिक्रमण कर शुद्ध होनेको कहा गया है।

क्या यह दोष दीक्षा छेदके लायक नहीं है जो वारवार आहारादिकका यावज्जीव प्रत्याख्यान करे और वारवार उस प्रत्याख्यानका भंगकर आहार करें।

(१३) जो यह कहा गया है कि "पंच महाव्रतकी शुभ वृत्ति भी न करके मात्र चैतन्यके अनुभवमें लीन होना ऐसीही भावना थी" तो क्या पंच महाव्रत धारण किये विना ही चेतनके अनुभवमें कोई लीन हो सकता है ? संभव है कांजी स्वामी अव्रती है इसलिये वे चैतन्यके अनुभवमें लीन हो जाते होंगे संभव है इसीलिये ही पंच महाव्रतका विकल्प पुन्य वन्धका कारण मानकर इसके धारण करनेको मिथ्यात्व वतलाया है।

(१४) तीर्थंकरोंके कमंडलुका निषेध करने वाला क्या दि. जैन सिद्धांतका वचन कोई दिखला सकता है ?

(१५) सांसारिक आत्माको त्रिकालीन केवली मानने वाले को और केवलीके सादृश्य प्रत्यक्ष, आत्माका प्रत्यक्ष केवलज्ञान के पहिले नीचली दशामें हो जाता है ऐसा कहनेवालेको क्या दि. जैन कहा जाय या वेदांती कहा जाय ?

(१६) जो व्यक्ति दान पूजा तीर्थ यात्रादिक करने वालोंको अथवा शरीराश्रित व्रतादिककी क्रिया करने वालोंको मिथ्यात्वी समझता है, क्योंकि यह सब पुन्य वन्धका कारण है और वन्ध

है सो संसार होनेसे मिथ्यात्व है। ऐसा मानने वाला व्यक्ति खुदही मंदिरादि बनावे प्रतिष्ठा करावे पूजन करे तो उसको क्या सम्यक्त्वी समझना चाहिये या मिथ्यात्वी ? एक बात, दूसरी बात यह है कि जो व्यक्ति दान पूजादिकको और देव शास्त्र गुरुकी श्रद्धा करनेको मिथ्यात्व मानता है यदि वही व्यक्ति देवस्थान बनावे और समयसारादि ग्रंथोंपर अपनी श्रद्धा प्रगट करे तो उसको मूर्ख समझें या सयाना ? जो जान बूझकर कुवेमें पडे वह कैसा ज्ञानी ? और ऐसे ज्ञानीके विवेचनको प्रवचन मानकर अपना हित चहाने वाले कैसे मुमुक्षु ? क्या केवली के प्ररूपे शास्त्रोंके सिवाय साधारण मिथ्याज्ञानीके वचनोंकी प्रवचन संज्ञा हो सकती है ? यदि नहीं होती तो कांजी स्वामी का प्रवचन ऐसा क्यों कहा जाता है ? यदि होती है तो आगम बतावें ?

इत्यादिक उपरोक्त सिद्धांत विरुद्ध बातोंका कांजी समीचीनरूपेण आगमानुकूल समाधान करें या अपनेको दिगम्बरी कहना छोडदें, अथवा अपनी गलती स्वीकारकर यथार्थ मार्गका अनुसरण करें एवं दि. जैन सिद्धांतके प्रौढ विद्वानोंका सम्पर्क करें और उनसे दि. जैन सिद्धांतके रहस्यको समझें।

अतः कांजी भाईसे हमारा किसी प्रकारका विरोध नहीं है, विरोध है उनके सिद्धांतसे जो जैनागमके प्रतिकूल है तो भी भोले जीव उनको जैन सिद्धांत समझकर उस पर श्रद्धा करते

जा रहे हैं जिससे दि. जैन धर्मका सिद्धांत और आदर्श स्थिर रहना दुसाध्य हो जायगा ऐसा समझकर मैंने उनके सिद्धांतकी समीक्षाकी है। जिसप्रकार हितकी दृष्टिसे कहीं पर कभी किसीसे कटु शब्द भी प्रयोग होजाता है तो उसको अपना हित चाहने वाले सज्जन मिष्ट समझकर ग्रहण करते हैं उसी प्रकार मेरे शब्दों में भी यदि किसीको कटु मालुम देवे तो वे उसको हितकी दृष्टिसे ग्रहण करें यह सबसे मेरी प्रार्थना है।

अंतमें कांनजी भाईसे भी मेरी प्रार्थना है कि यदि आप अपना कल्यान चाहते है तो आप अपना नियतिवाद और स्व-भाव वाद पाखंड को छोडकर स्याद्वाद सिद्धांत को स्वीकार करिये। आचार्य श्री १०८ श्री वीरसागरजी आचार्य श्री १०८ श्री महावीर कीर्तिजी आचार्य श्री १०८ श्री देशभूषणजी के पास जाकर उनके पास रहकर अपनी सब शल्य निकालकर अपनी प्रवृत्ति और विचार शुद्ध करिये। किसी अच्छे विद्वानका समागमकर उनसे दि. जैन सिद्धांतका रहस्य समझिये। निमित्त और व्यवहारके विना कोई कार्यकी सिद्धि नहीं होती आपने शुभरागको संसारका कारण समझकर उस शुभरागको हेय समझ लिया है किन्तु यह बात नहीं है इस विषयमें श्रीगुण-भद्राचार्य जो मूलसंघके प्रधान प्रमाणीक आचार्य हैं उन्होंने आत्मानुशासनमें शुभरागको शुद्धताका कारण बतलाया है। अर्थात् राग दो तरहका होता है एक शुभ दूसरा अशुभ। जो देव

पूजादिकरनेमें अथवा महाव्रतादि धारण करनेमें राग होता है वह शुभराग है और शुद्धताका कारण है। तथा जो राग भोगाभिलापमें होता है वह राग अशुभराग है और संसारका कारण है इस बातको दृष्टांत द्वारा स्पष्ट कर दिखाया है कि प्रातःकाल की राग (ललिमा) अन्धकारके नष्ट करने वाली और प्रकाशको प्रगट करने वाली है और संध्या समय की राग (लालिमा) अंधकारको प्रगट करने वाली है। आपके दिलमें जैसी यह शंका वनी हुई है कि शुभराग है सो भी तो राग ही है वह मोक्षका कारण कैसे? राग तो बन्ध ही का कारण है उसी प्रकार गुणभद्राचार्य ने भी शंका उठाकर समाधान किया है। यहां शंका—जो ज्ञान आराधना रूप परिणाम जीवकैं तपशास्त्रादि विषैं शुभ रूप अनुरागतैं सरागीपना होहै तातैं मुक्तपनो कैसे होय—

उत्तर

"विधूततमसो रागस्तपः श्रुतनिबन्धनः।
सन्ध्याराग इवार्कस्य जन्तोरभ्युदयाय सः॥"१२३

टीका स्व० पं० टोडरमलजी कृत। दूरि किया है अज्ञान अन्धकार जाने ऐसा जीव ताकैं तप शास्त्रादिक सम्बन्धी राग भाव है सो कल्याणका उदयहीके अर्थी है जैसे सूर्यके प्रभात संध्या सम्बन्धी रक्तता है सो उदयके अर्थि है तैसे जानना।

आगे इसके विपरीत जो रागभाव है सो संसारका कारण है ऐसा दिखलाते हैं।

"विहाय व्याप्तमालोकं पुरस्कृत्य पुनस्तमः।
रविवद्रागमागच्छन् पातालतलमृच्छति ॥१२४॥

अर्थात् जीव हैं सो सूर्यवत् व्याप्तभया प्रकाशकों छोरि बहुरि अन्धकारकों आगामी करि रागभावकों प्राप्त होत संते पाताल तलको प्राप्त हो हैं। अर्थात् संसार विषें प्रवेश करे हैं।

यह दशा आपकी और आपके भक्तोंकी होरही है जो परंपरा मोक्षका कारण व्यवहार धर्ममें राग भाव है उसको बन्धका कारण मानकर उसको तो छोडते जारहे हैं और जो पांचों इन्द्रियोंके विषय भोग संसारके कारण हैं उन्हें निर्जराका कारण मानकर उनमें यथेच्छ प्रवृत्ति कर रहे है अर्थात् उसमें भक्ष्याभक्ष्यका योग्य अयोग्यका विचाररहित होकर अविवेकपूर्वक प्रवृत्तिकरते जा रहे हैं।

इस बातका हमको बडा दुख है कि आप जैसे विद्वानोंकी यह दशा जो विपरीत मार्गका अनुसरणकर स्वपरका अकल्यान करनेमें उतारू होरहे है। लोग आपको संत कहते है तो क्या यह संतोंका कार्य है जो स्वपरका अकल्यान करें ? कदापि नहीं।

परमात्मा आपको सद्बुद्धि दें और आप अपने मिथ्या महंत पनाके पदको छोडकर स्वपर कल्यान करनेमें लग जांय यही अंतिम श्री १०८ महावीर भगवान से प्रार्थना है।

समाप्तम्

भारतीय जैन सिद्धांत प्रकाशिनी संस्था।

इस्वी सन् १९१३ में बनारस में स्थापित हुई थी तब से अबतक बनारस कलकत्ता और श्री महावीर जी में रहकर शुद्धता पूर्वक अपने पवित्र प्रेस में छपाकर दि० जैनाचार्य प्रणीत प्राकृत संस्कृत हिन्दी ग्रन्थों का प्रकाशन करती आरही है।

संस्था व्यापारिक नहीं है धार्मिक पुरुषोंने जैनधर्म के प्रचारार्थ स्थापित की है। इसमें जो लोग दान देते हैं, उनके द्रव्य से ग्रंथ छपादिये जाते हैं और उन ग्रंथों पर दाताओं का नाम छाप दिया जाता है। दाताओं की इच्छानुसार ग्रंथ विनामूल्य लोगों को देदिये जाते हैं अथवा अल्प न्योछावर से दे दीये जाते हैं। और न्योछावर उठ आने पर दूसरा ग्रंथ उनके ही नामसे पुनः छापदिया जाता है। इस तरह सदा कीर्ति और ग्रंथप्रचार का सिलसिला चलता रहता है इसलिये आपको यह लाभ लेना हो तो संस्थाके सहायक बनिये।

निवेदक—

ब्र० पं० श्रीलाल काव्यतीर्थ

मंत्री—भारतीय जैन सिद्धांत प्रकाशिनी संस्था

श्रीमहावीरजी (राजस्थान)